हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकरका ९८ वाँ ग्रन्थ

नीलमदेशकी राजकन्या
और
अन्य कहानियाँ

लेखक
जैनेन्द्रकुमार

प्रकाशक
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई

प्रथम बार
सितम्बर, १९३८

मूल्य १॥)

मुद्रक—
रघुनाथ दिपाजी देसाई
न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस,
६ केळेवाडी, गिरगाँव, बम्बई

दृष्टि-दोष

बचपनमें जो कुछ हो जाता है, वह याद रहता भी है, नहीं भी रहता है। हम भी उसमेंसे 'कुछ इस'को तो भुला देना चाहते है और 'कुछ उस'को अपने निकट सदा ताज़ा रखे रखना चाहते हैं। किन्तु, बढ़ते चलनेमें क्या छूटता जायगा और क्या अपने भीतर संग्रहीत हुआ रहेगा, सो किसी नियमसे शोधा नहीं जा सकता।

मेरी अवस्था पैंतालीस वर्षकी होगी। विवाह भी कर लिया है और अपनी डाक्टरीमें मजबूतीसे सँभला बैठा हूँ। इस डाक्टरीकी अच्छी आय और ऊँची प्रतिष्ठाकी कुर्सीपरसे अब जब बचपनको देखता हूँ तो वह अच्छा ही लगता है। अब यह स्वीकार करते हमें आनन्द ही होता है कि हम छोटे थे तब बड़े मूरख थे। क्योंकि, उससे बिल्कुल पार हो जाकर, हम अब उसपर असंलग्न निगाह डाल सकते हैं।

किशोरावस्थाको भी बचपन ही कहिए। अन्तर इतना ही है कि इस अवस्थामें बच्चेकी बेवकूफी यहाँ तक बढ़ जाती है कि उसे हिम्मत होती है कि वह अपनेको बड़ा समझे, बच्चा न समझे।

उसी किशोरावस्थामें एक बात घटी।—अब तो उसे 'बात' ही कहना चाहिए

किन्तु, जब वह हो रही थी तब कोरी 'बात' ही नहीं थी। क्या थी, यह पाना एकदम अशक्य है। पर सारी जिन्दगीको एक मोड़ पर वह डाल गई और वहाँ सदाके लिए जैसे एक गाँठ बैठ गई।

घर मेरा ग्वालियर था, पढ़ता कानपुर था। कानपुरमें एक रिश्तेदारके यहाँ रहता था। अब वह 'बात' यह थी कि एक सम्भ्रान्त पड़ोसीके घरमें सुभद्रा नामकी एक लड़की रहती थी। नववीं क्लासमें थी या दसवींमें, ठीक याद नहीं। स्वभावतः हम एक दूसरेको जानने लगे। परस्पर परिचय पाया, मिले। परिणाम हुआ कि एक रोज मेरे मनमें होने लगा कि मैं या तो उसे पा लूँ या मर जाऊँ। किन्तु इन दोनोंमेंसे कोई बात होनेमें नहीं आई। हुआ यह कि मैंने सुना, लड़कीके पिता उसकी सगाईके लिए अन्यत्र कहीं ठीक-ठाक कर रहे हैं। सुन कर जग फीका लगने लगा। उस समय मनमें आया कि चलो जी, मर-मराकर पाप काटो। यह भी सोचा कि मैं तो मरूँ ही, चलो, सुभद्राको भी तमंचेकी एक चोटसे छुटकारा दे दूँ। फिर कहाँ रहेगा जगत और कहाँ रहेगी हमारे मनकी विथा।

यह विचार मैंने पत्रसे सूचित किया कि कहो सुभद्रा, क्या राय है?

सुभद्राके पाससे कोई राय मेरे पास नहीं आई। न कोई मेरे लिए सम्बोधन आया, न उद्बोधन। न प्रेमकी शपथें आईं, न क्षमाकी प्रार्थना। मृत्युके विषयमें निर्भीक संकल्प भी नहीं आया, जिसकी मुझे पक्की आशा थी।—असलमें कोई जवाब ही नहीं आया।

तब मेरी आँखें खुल खुल कर पड़ीं। मैंने कहा कि 'ओ सुभद्रा, तू ऐसी! ..पर क्यों न! आखिर तो तिरिया-चरित है!' और इच्छा की कि एक लम्बी-सी तलवार क्यों न हुई जो दोनोंके सीनेमेंसे निकलकर दोनोंको आपसमें पिरो दे और मंजिल तय हो जाय। फिर भी हठात् मैं सँभला और पत्रपर फिर पत्र लिखे। पर जवाब किसीका भी न पाया।

अब जब उस किस्सेसे मैं बिल्कुल पाक हूँ, बहुत दूर हूँ, तब झूठ बोलनेमें मुझे कोई लालच नहीं है। मैं कह सकता हूँ कि हम दोनोंके बीचमें यदि कुछ गीला उठा और भरकर फोड़े-सा पकता ही आया तो उसमें सुभद्रा निर्दोष न थी। मैं कितना ही उस समय अपने पौरुषपर मुग्ध क्यों न होऊँ, विस्मित और मनके भीतर अपराधी; लेकिन अब आकर तो इस बात

आँख मींच ही नहीं पाता कि मैं तो पतंग जितना भी स्वाधीन न था। और यद्यपि वह सुभद्रा आकांक्षाहीन स्थिर दीप-शिखाकी भाँति अपने आपमें म और प्रज्वलित दीखा की, फिर भी मानो आमंत्रणीय और निश्शब्द आकांक्षाका जो जाल, उसके बावजूद, उसमेंसे फूटकर, आखेटकी चाहमें बाह फैल छाया था, सुध-बुध भूलकर मैं उसीमें खिंचा चला जाता था।

खैर, जो हो। जब मैंने जवाब नहीं पाया और हाथमें न कोई तलवार त तमंचा पाया, तो मैंने अपने घर ग्वालियर पहुँचकर निश्चय किया कि मैं कानफु छोड़ दूँगा, अबसे लखनऊ पढ़ूँगा।

मैं लखनऊमें जाकर पढ़ने लगा। खूब जीको तोड़ मोड़कर मैंने उसे अध्ययनमें झोंक दिया। मैंने तय कर लिया कि सुभद्रा चाहे जहाँ हो, मुझे वह नहीं पानी है। अब तो सफलता और नामवरी ही मुझे पानी है। मैं पढ़ता गया और पढ़ता गया।—बी० एस-सी० किया, फिर मेडिकल कालिजमें गया ब्याहका नाम पास तक न फटकने दिया। एम० बी० बी० एस० के बाद दो साल आँखमें स्पेशलिस्ट बननेमें निकाले। इस भाँति राहको दीर्घसे दीर्घ बना कर भी जब मैं उसके पार आ लगा, तब, तीस सालका होकर, अपनी आँखकी डाक्टरीमें जमने बैठ गया।

तीससे आरंभ करके आज पैंतालीस वर्षके होनेके इस कालने मुझे ठोक ठोककर पक्का आदमी बनाया है।

इस बीच बार बार मुझसे कहा गया—ब्याह।

हर बार मैंने कह दिया—नहीं।

फिर ज़िद हुई—अरे, क्यों नहीं?

मैंने शाँत होकर यही कहा—नहीं। इसीलिए और नहीं।

माँ-बाप हार गये। और भी कहनेवाले हार गये। और मैं बस डाक्टरीमें गहरेसे गहरा गड़नेमें लगा रहा। डाक्टरी चमकने लगी। वह बढ़ने और जमने लगी। लेकिन माँ-बाप शिथिल पड़ने लगे। उन्होंने अपने जीवनमें देखा कि मैं कामयाब डाक्टर बन गया हूँ। वे प्रसन्न थे किन्तु,—किन्तु इसको वे जीते जी तरसा ही किये कि मैं विवाह करके घर-बार लेकर बैठूँ और उनके वंशकी बेल आगे बढ़ाऊँ। अपने वंशमें और वंशजोंमें व्यक्ति अमर होकर जिये, इससे गहरी प्राणोंमें और क्या चाह है?

किन्तु जिक्र हुआ—ब्याह !

मैंने कहा—उँह !

फिर जिरह हुई—अरे क्यों ?

मैंने पिंड छुड़ाया, कहा—छोड़ो, छोड़ो।

सो उमर आती गई। माँ-बाप छीजते गये। और एक दिन वे मर गये।

तब मैं डाक्टरीको पकड़कर उसके साथ और भी जोरसे आलिंगनमें चिपट गया। जैसे मैंने मनमें कहा, 'अरी ओ तू सत्यानासिनी डायन डाक्टरी, अब तू मुझसे कहाँ जायगी ? तू भी देख कि मैं तुझे फुला-फुलाकर कितनी मोटी कर देता हूँ। पर मोटापा ही तेरे भाग्य में है, अरी बंध्या !...'

इस भाँति मैं चालीस वर्षके लगभगका हो आया। स्थूल भी होता आया। जिसके सिरपर पैसा आकर चिपटकर बैठता गया और डाक्टरी फूलकर फूलती गई। लेकिन मैं अब कभी-कभी अपनेको निष्फल-सा भी अनुभव करता। मन गिरा-गिरा-सा रहता और लगता कि मैं जैसे चुक चुका हूँ। मैं अकेला हूँ और दुनिया धन जोड़नेके लिए है—मानो इस बातपर मन अब चिपकाए न चिपकता, वहाँसे वह खिसक आना ही चाहता। ऐसे समय अपने बारेमें और सतर्क होकर मैं अपनेको सँभाल लेता। खूब चुस्त और कर्तव्यमें अत्यन्त लीन होकर कर्ममें चिपटा ही रहता,—व्यस्त ही रहता। सोता बहुत कम। पढ़ता था, प्रयोग करता था, परीक्षण करता था,—उसके बाद रोग-निदान और दवा-दान करता था। नौकर बहुत थे और वे सब मुझसे हुशियार रहते थे। अपनी भाँति मैं उन्हें भी मशीनकी नाईं अथक और चुस्त न देखूँ, यह मुझे असह्य था। मैं उनपर रह-रहकर झल्लाता और झींकता था। वक्तका मेरे लिए बहुत मूल्य था, क्योंकि उसको अपना सामना करते मैं न देखना चाहता था। मैं अत्यन्त उद्यमी डाक्टर था। किन्तु—

किन्तु इस सबसे मैं तंग भी था।

इस भाँति बयालीस वर्षका होते होते मैंने सोचा, मैं विवाह करूँगा और एक मादासे विवाह मैंने कर लिया।

मादा कहनेसे यह मतलब नहीं कि मैंने स्त्रीसे विवाह नहीं किया। नहीं, वह थी, किसीकी पुत्री भी थी, किसीकी बहन भी थी। उसका नाम भी था,

आकार भी था और उसमें व्यक्तित्व भी तो था ही। किन्तु मैंने विवाह तो नाम, रूप अथवा स्त्रीके स्त्रीत्व और व्यक्तित्व आदिसे नहीं किया। वह तो मैंने मादा थी, इससे किया। मादा होनेके कारण-भरसे मैंने स्त्रीको विवाहा।

घरमें चार नौकर हैं, इतनी कुर्सी, इतने पलंग, इतने तौलिए हैं, तो जरूरतके लिए एक मादा भी क्यों नहीं हो सकती? विवाहकी कीमत देकर इसलिए उस जरूरतकी चीजको भी मैंने अपने तईं सुलभ बना लिया।

अब मैं लगभग पैंतालीस वर्षका हूँ। ऐसी पकी अवस्थामें अपनी स्थूलांगिनी और कांचनदेहा डाक्टरीके स्वामित्व-कालके बीचमें ही, वर्षासे भीगे हुए एक दिन, जो घटना हो गई क्या उसको आप समझेंगे?

२

सवेरेसे बारिश हो रही थी। सर्दी खूब थी। आज मैं कुछ बेकाम-सा था। रोगी कम आये थे। बादल खुलनेमें न आते थे। रिमझिम-रिमझिम पड़ती हुई बूँदोंसे मेरा भी जी जैसे कुछ विवश हो आ रहा हो। मानो बूँदें मेरे भीतर चली आकर अंतरको भिगो रही हों। मैं इस तरहकी बेमतलब अवस्थाओंको नापसन्द करता हूँ, जब हम पाते हैं कि अपनेहीमें हम घुले जा रहे हैं, घुले जा रहे हैं!—छिः! यह क्या आदमियत है? इसलिए उन नीरव और गीली घड़ियोंको चुनौती देता हुआ-सा मैं पुरुषार्थपूर्वक कुर्सीसे खड़ा होकर अपने ही कमरेमें टहलने लगा। तभी थोड़ी देरमें मुंशीने आकर एक पर्चा मुझे दिया जिसपर लिखा था 'On Business,' नीचे हस्ताक्षर स्पष्ट न थे। मैंने पूछा—कौन है?

मुंशीके बतानेसे मालूम हुआ, एक भद्र महिला हैं।

महिला!...मैं दृढ़ कदमोंसे टहल रहा हूँ, तब भद्र महिला!...

मैंने किंचित् परुषभावसे कहा—वह क्या चाहती हैं?

मुंशीने संकेतसे बताया कि जहाँतक वह समझता है, जो पर्चेमें लिखा है, वही वह महिला चाहती होंगी।

मैंने अपनी कुर्सीकी ओर बढ़ते हुए कहा—अच्छा, उन्हें आने दो।

महिला आई। मैं कुर्सीपर बैठा रहा, अभिवादनमें उठेको तनिक ही उठा हूँगा कि बैठ गया।

महिलाने कुर्सी खींची, हाथमेंसे ग्लव्स खींचकर तह करके मेजपर रख दिये और खड़े ही खड़े हठात् मुस्कराते हुए कहा—डाक्टर साहब, आप मुझे अपनी मरीजा बनने दीजिएगा ?

यह कहते कहते वह कुर्सीपर बैठ गई।

मेरे भीतर कुछ वस्तु जोरसे उठने और बैठने लगी। मुझे अपनेको यह मनाना मुश्किल होता जाता था कि मैं डाक्टर हूँ और यह मरीजा है, कि मैं अपरिचित हूँ और यह भी अपरिचिता है।

मानो अपने बावजूद मैंने कहा—आपका नाम—

महिलाने बीचहीमें बातको लेकर कहा—जी हाँ, मेरा नाम सुभद्रा है, और मैं खूब सानन्द हूँ।

मानो अब मैं अपने भीतर शान्त होने लगा और आदतवश अनायास डाक्टर हो चला। मैंने साधारण भावसे कहा—ओह !

सुभद्राने कहा—जी हाँ, डाक्टर साहब, मैं बिल्कुल खुश हूँ। लेकिन लोग कहते हैं कि मुझे दृष्टि-दोष है। जरा जोर पड़ने पर आँखमें पानी उतर आता है। आप आँखके विशेषज्ञ हैं। आज जब कामसे देहली आना हो गया है तब मैं आपसे पूछना चाहती हूँ कि क्या मुझे आप अपनी मरीजा बनने देंगे ?

मैंने कहा—अच्छा।

इस 'अच्छा' में मानो मैंने अच्छी तरह कह दिया कि मैं डाक्टर ही हूँ।

मैं उठकर एक तरफको बढ़ा, कहा—आप जरा इधर आइएगा ?

उनकी आँखको साधारण रीतिसे देखा, यथानियुक्त दूरीपर रखे बड़े छोटे अक्षरोंको पढ़वाया और मुस्कराकर कहा—दृष्टिमें तो दोष नहीं मालूम होता।

उन्होंने कहा—आँखमें पानी बहुत जल्द आ जाता है।

मैंने कहा—तो थोड़ी तकलीफ और कीजिए।

और डार्क रूममें ले गया। वहाँ अँधेरा ही अँधेरा था। मैंने चटसे बिजली खोली और आँखके सम्बन्धमें उनका इतिवृत्त जानना आरम्भ किया। मुस्कराती जाती थीं। मुझे ध्यान रखना पड़ रहा था कि मैं डाक्टर हूँ। आवश्यक प्रयोग और परीक्षण कर कहा—चलिए, अब दफ्तरमें चलें।

वह कुर्सीपर बैठी थीं। मैं बराबरमें खड़ा था। एक दूधिया बत्ती जल

थी जो इस कमरेकी रातको दिन बनानेकी भीख माँगती लगती थी। कुर्सीपर बैठे बैठे उन्होंने कहा—कुछ दवा नहीं दीजिएगा?

मैंने कहा—दवा आपको जरूर चाहिए तो जरूर दूँगा।

"जी हाँ, क्यों जरूर नहीं चाहिए?"

मैंने एक शीशीमें कुछ बनाकर तैयार कर दिया। और कहनेवाला ही था 'चलिए' कि उन्होंने पूछा—'डाक्टरसाहब, मेरी निगाह ठीक हो जायगी?

मैंने कहा—निगाह तो ठीक ही है।

सुन कर वह चुप हो गई। मैं भी चुप रहा। सब चुप था।—जैसे समय भी चुप ठहर गया हो। बाहर बूँदें टपटप टपकती थीं। वह टपटप अस्पष्ट कमरेमें आ रही थी। मानो जीवनका वे ही वहाँ लक्षण थीं, या कि हम दोनोंके श्वास। तीन मिनट, चार मिनट हो गए। वे तीन-चार मिनट बेहद भारी होते गये। हाथ कुछ न आता था जो उन घड़ियोंको टाल दे, और अटल हो कर वे एक एक पल मन मन भर भारी होते जाते थे। मानो अब मिथ्याचार टिकाये न टिकेगा। 'मैं डाक्टर हूँ,' इसको कुचल कर यह प्रतीति मानो ऊपर आही रहेगी कि 'मैं पुरुष हूँ' और यह भी कि जो कुर्सीमें है वह मरीजा तो चाहे हो, और चाहे न भी हो, पर वह सुभद्रा है।

शहदसे भी भारी ये दो आत्माओंके बीचके सन्नाटेकी घड़ियाँ असह्य होती चली गईं। चौथा मिनट होते होते आखिर, मानो मोह तोड़, अपने साथ एकदम झटपट मचाकर मैंने कहा—चलिए, दवा बन गई है।

उन्होंने भी जैसे खोई सुध पाई। उन्होंने कहा—आप मरीजके इतमीनान-का इतना ही ख्याल रखते हैं, डाक्टर साहब? ठहरिए, बतलाइए, मेरी आँख ठीक हो जायगी? मैं अब चालीसकी होने आती हूँ।

मैंने धीमेसे कहा, 'हाँ, जरूर हो जायगी।' फिर हम लोग उठकर बाहर दफ्तरमें आ गये। महिलाने वहाँ धीमे धीमे, मानो विचारपूर्वक, हाथोंमें दस्ताने पहनने शुरू किये। उसी समय उन्होंने कहा, "आपकी कृपाके लिए, डाक्टर साहब, मैं बहुत कृतज्ञ हूँ।" यह कहकर मेरी फीसके बीस रुपये निकाल कर मेरे सामने मेजपर रख दिये।

वे दोनों नोट, नये, रंगीन, क्रिस्प, मेरी निगाहके आगे बिछेके बिछे ही रह

गये। मालूम हुआ कि इन कागजोंका बोझ मेरे हृदयसे सँभाला न जायगा। जीमें हुआ-सा कि इन कागजोंको और अपनी डाक्टरीके आवरणको फाड़-फेंककर बाँहें फैलाकर खड़ा हो जाऊँ और कहूँ, 'ओ सुभद्रा!' लेकिन वह कुछ भी न हुआ। मेरा हाथ यन्त्रके समान धीरे धीरे बढ़ा, नोटों तक पहुँचा और नोटोंको अपनी पकड़में मरोड़कर उन्हें चुपचाप मेरे जेबमें डाल गया। सुभद्रा देखती रही और जब नोट चुप जेबमें बंद हो गये तब मानो उसके मुखका सुख बढ़ा। उसने कहा—डाक्टर साहब, मैं बाल-बच्चेदार स्त्री हूँ। क्या आप इजाज़त देंगे कि आपके बाल-बच्चोंसे मिल लूँ? मेरे बच्चे सब दूर हैं। मैं यहाँ अकेली हूँ।

मैंने कहा—आप कह क्या रही हैं?

"मैं यहाँ बिल्कुल अकेली हूँ डाक्टर साहब, और हाल ही मेरा पाँच वर्षका एक बच्चा मर गया है। वह किताबमेंसे ए–बी–सी–डी सुनाया करता था और खाते वक्त रोटीके ये हरूफ बनाया करता था। यहींके अस्पतालमें वह मरा है। उसके बापको छुट्टी नहीं मिल सकी और वह नहीं आ सके। और बच्चे बापके पास हैं। उनके देखनेको मेरा बहुत जी है। पर वह कहाँ हैं, मैं कहाँ हूँ?...आपके कितने बच्चे हैं डाक्टर साहब?"

मैं विमूढ़ होता गया। कुछ कहनेके लिए मैंने कहा—आप क्या कह रही हैं?

उन्होंने कहा—डाक्टर साहब, आप मुझे...आपके कितने बच्चे हैं?

यह सब कुछ मेरे लिए बहुत होता जा रहा था। मैंने एकदम कहा—मेरे कोई बच्चा नहीं है सुभद्रा।

मैं वह पढ़नेको हो गया। पर मानो वह चलनेसे हठात् इंकार करते हुए उसने पूछा—शादी नहीं की?

"की है।"

तब मानो मैंने उसके मुँहका संबोधन सुना—केदार! क्या यह मेरी कल्पना थी? और मेरे कंठ तक आया—सुभद्रा!

हम अपनी अपनी जगह रहे और मानो एक दूसरेको निगाहोंसे निगल जाना चाहने लगे।

किन्तु वह सुभद्रा थी। उसने कहा—आप दुखी हैं?

"नहीं, दुखी नहीं हूँ," मैं कह चला, "दुख जानने लायक मैं नहीं हूँ।"

उस समय सुभद्रा जो हो पड़ी, मैं उसे न समझ सका। उसने कहा—

केदार, किन्तु मुझे तो देखो। मैं सुखसे किसी तरह भी बचकर दुखी हो सकती हूँ? हमारा गृहस्थ-जीवन स्वर्ग है। मैं बचोंको प्यार करती हूँ, बच्चे मेरे हैं। पति मुझे प्रेम करते हैं और वह मेरे पति हैं। छिः, फिर भी तुम दुखी होते हो। सुभद्रा कितने सुखमें है, यह नहीं देखते?

कहते कहते सुभद्राकी वाणी मानो मर्मवेधिनी होती गई। वह मानो चीख-चीखकर यह सुना रही थी।

तब मुझे मालूम होने लगा कि स्त्री क्या है? कि वह मादा नहीं है, वह तो स्त्री ही है। मैंने मानो उसको सम्बोधन देते हुए कहा—सुभद्रा!

उसने कहा—नहीं, केदार, तुम मेरे सुखको कम नहीं कर सकते। यह देखो ग्लव्स,—बाइस रुपयेके मुझे स्वामीने लेकर दिये थे। मेरी मोटर बाहर खड़ी है। बहुत-सी चीजोंकी और अपनी मालिक मैं हूँ।...केदार, तुमने शादी कब की? चार वर्ष पहले तक तो तुम ऐसे ही थे!

मैंने कहा—सुभद्रा!

"नहीं केदार, तुम मेरा सुख स्पर्श नहीं कर सकते। तुम कोई नहीं हो कि मुझ सुखीको लेकर तुम दुखी बनो, जिससे कि मेरा ही सुख मुझे काटे। नहीं, तुम मेरे आनन्दको नहीं छू सकोगे। मैं बहुत प्रसन्न हूँ।"

"सुभद्रा!"

"केदार, तुम्हारे पत्र मुझे नहीं मिले, यही तुम समझो। बताओ, उनमें मूर्खताके सिवा कुछ था? और प्रेम मूर्खता है। प्रेममें किसीने सुख पाया है? इसलिए मैंने उसी क्षण उन पत्रोंको समाप्त किया और उसके बाद सुखके राहकी सब अड़चन मिटा दी। विवाह हुआ, कुटुम्ब हुआ...नहीं केदार, तुम ईर्ष्या नहीं कर सकोगे।"

मैंने फिर कहा—'सुभद्रा', ताकि वह रुके और शान्त हो। लेकिन उसने कहा—केदार, तुमने कब ब्याह किया? त्योरस साल ही तो? मैं सब जानती रही। लेकिन तेतालिस वर्षतक तुम कुँवारे रहे?...मैं कहती हूँ कि सुभद्रापर इसकी कोई जिम्मेदारी नहीं है, कोई फिक्र नहीं है...केदार, केदार!...क्या तुम आशा किये ही जाते हो? किये ही जाओगे? लेकिन आशा ठगिनी है। आशा झूठ है, जैसे कि तलाक झूठ है। तेतालिसवें वर्ष ब्याह करके भी तुम सुभद्राको याद रखनेकी हिम्मत रखते हो? लेकिन तुम्हारी हिम्मत झूठ है, क्योंकि सुभद्रा सुखी...

" सुभद्रा ! "

" ...नहीं, नहीं, मैं विधवा जल्दी होनेवाली नहीं हूँ। मैं कभी विधवा नहीं हो सकती, क्योंकि मैं सती होऊँगी। सतीत्व भारतसे मिटा नहीं है, यह मुझसे लोग देखेंगे। तुम आशा करके अपनेको ठगो मत, केदार। क्योंकि मैं विधवा एक क्षणको भी नहीं हूँगी और तुम्हारा मुँह भी नहीं देखूँगी। दृष्टि-दोष न होता तो क्या तुम समझते हो मैं याद भी करती कि केदार नामका कोई डाक्टर है या केदार कोई आदमी भी है ? आँखकी वजहसे ही मैं तुम्हारे पास आई हूँ, यह खूब समझ लो। "

मैंने जेबसे नोट निकाले। धीमे धीमे हाथ बढ़ाकर उसका हाथ पकड़ा और उस हाथकी मुट्ठी बाँध उन नोटोंको मींज देकर उसकी कलाईको थामे हुए ही कहा, " सुभद्रा ! "

कुछ देर वह जैसे अवसन्न हो रही। फिर एक साथ झटकेसे अपना हाथ खींचकर बोली—आप मुझे यह बताना चाहते हैं कि मैं मरीज़ा नहीं हूँ और आपके पास इसीलिए नहीं आई हूँ कि आप डाक्टर हैं ? अजी, मुझे दृष्टि-दोष न होता और आप आँखके डाक्टर न होते तो मेरा आपसे क्या वास्ता था ? यह रुपये वापिस करके आप अपनेको धोखा देना चाहते हैं कि मेरा आपसे वास्ता है ?

यह कह कर दोनों नोट मेजपर ही छोड़ दिये। वे कागज़ गुड़ी-मुड़ी हुए मेजपर पड़े रहे।

मैंने कहा—सुभद्रा !

सुभद्रा खड़ी हो गई। उसने कहा—अच्छा डाक्टर साहब, मेरी आँखोंको आराम हो जायगा न ? आपने आठ रोजकी दवा दी है। उसके बाद ख़त भेजकर या आदमी भेज कर भी आपके यहाँसे दवाई मँगाई जा सकती है न ? मेरा आना मुश्किल होगा।

मैं भी खड़ा था। मैंने कहा—प्यारी सुभ—

लेकिन सुभद्रा दरवाज़ेसे बाहर चली गई थी। ...

\+ + + +

इसको बीते ज्यादे दिन नहीं हुए हैं और मैं नहीं जानता कि इस घटनाको मैं किस प्रकार तह करूँ और अपने सामानमें उसे कहाँ रखूँ।

कुछ उलझन

श्याम,

लो, मैं बम्बई आ गया। आज मुझे यहाँ चौथा रोज है। तुम शायद समझते होगे, मैं लिखूँगा कि बम्बई मुझे नरक मालूम होता है। ऐसा नहीं है। नरककी कोई बात नहीं। आदमी बेचारा है और लाखोंकी तादादमें इकठ्ठा हो जाने पर भी उसमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह अपने मनके बाहर कहीं नरक पैदा कर सके। तुमने कहा था कि मैं बम्बई रहूँ। वहाँ जो भागाभागी और आपा-धापी मची हुई है, उसके स्पर्शमें पड़ूँ। तुम जानते थे कि मुझमें योग्यता है, तब प्रमाद भी है। और शायद तुम्हें भरोसा था कि चारों ओरसे स्पर्द्धाके दबावमें पड़कर प्रमाद उड़ जायगा और मेरे भीतरकी योग्यता निखर उठेगी। मैं नहीं जानता प्रमाद मुझमें कितना है। अगर वह है तो फिर अगाध है और अकारण नहीं है। खैर, वह होगा। अभी यहाँके व्यग्र जीवनके आवर्त-चक्रोंमें तो यद्यपि मैं नहीं गया हूँ फिर भी उस जीवनके प्रवाहमें उतर चला हूँ। उस धाराके बीच अपनेको स्थिर रखनेमें कठिनाई मुझे होती नहीं लगती है।

श्याम, मैं अपने जङ्गलमें रहता था। वहाँ कुछ मैं ही थोड़े था—घास थी, पौधे थे, पेड़ थे, पक्षी थे। इन सबके बीच मैंने अपनेको कभी अकेला नहीं पाया। फिर क्यों और कैसा यह तुम्हारा आग्रह कि मैं जन-सङ्कुल इस बम्बईमें रहूँ। तुमने समझा हो कि शायद तुम मुझे अपने अकेलेपनसे बचा रहे हो। पर मैं अकेला कभी था नहीं, कभी होऊँगा भी नहीं। क्योंकि, शून्यको भी अपना साथी बना लिया जा सकता है। लेकिन क्या तुम सचमुच समझते हो कि इस बम्बईमें और उस हिमालयकी तराईके जंगलमें बहुत अंतर है? अंतर तो है, पर वह बहुत नहीं है। वह अंतर इतना ही है कि वहाँ आदमियोंकी न होकर पेड़ोंकी भीड़ थी। पेड़ क्या कम जीते हैं? क्या वे कम विचित्र हैं? क्या वे कम दुष्ट और अधिक साधु होते हैं? हाँ, वे

कोलाहल अवश्य इतना नहीं करते हैं और भागते भी नहीं फिरते हैं। लेकिन, उनकी भीड़ कब मनुष्यको निश्चिन्त छोड़ना चाहती है ? मैं, श्याम, तुमको यही कहना चाहता हूँ कि मैं बम्बई आ गया हूँ, इसमें मेरे लिए कोई विशेष व्याकुलताकी बात नहीं है। आदमियोंकी दुनियामें मिलने-जुलनेके अदब-क़ायदे हुआ करते हैं। उनसे ज़रा कम परिचित हूँ, इसे ही असुविधा समझो तो समझो; नहीं तो यहाँ मेरे साथ सब ठीक है। इस वक्त एक होटलमें ठहरा हूँ जिसमें सिर्फ़ बीस रुपए रोज़ मुझे देना होता है। वह बीस रुपए दे डालता हूँ और रोज़ रातको यह पा लेता हूँ कि मैं वैसा ही एक, वैसा ही स्वतन्त्र, वैसा ही स्वयं हूँ, जैसा जंगलमें था। मुझे पूछने दो श्याम, कि जब यहाँ विशेष असुविधा मुझे नहीं है तब मुझको इस बम्बईके बीच पानेके आग्रहमें तुम क्यों ब-ज़िद हो ? मैं जानता हूँ कि तुम ऐसे बहुत पैसेवाले भी नहीं हो। तब तुमने क्यों हठ-पूर्वक मेरे पल्ले पाँच हजार रुपए बाँध दिये, कि मैं बम्बई जाकर उन्हें खर्च कर डालूँ ? मैंने भी यह पाँच हजार रुपयोंका बोझ तुमसे ले लिया और निरापद भावसे उन्हें यहाँ खर्च कर दूँगा। तुम्हारी मनचीती होनेमें मैं क्यों बाधक बनूँ ? मैं सच कह रहा हूँ कि मुझे इसमें दुख नहीं है। लेकिन, मुझे इस बोधका भी सुख नहीं है कि इस मेरे सुखाभासमें तुम्हें सुख मिल रहा है। रातको जब सोता हूँ, यहाँ चारों ओर शोर रहता है। वहाँ सन्नाटा रहता था। वहाँ मेरे स्वप्न निर्बाध आते और वैसे ही निर्बाध चले जाते थे। यह कहनेका मतलब यह न समझना कि मुझे अपनी उस निर्जनताकी याद कसकती है, या कि मैं एक क्षणको भी यह सोचता हूँ कि तुमसे पाँच हजार रुपए लेकर मैंने तुमको क्यों आभारी बनाया। कहनेका मतलब सिर्फ इतना ही है श्याम, कि तुम और भी पक्के होकर समझ लो कि पैसा दुनियामें निकम्मी चीज़ नहीं है। मैं एक महीनेमें एक हज़ारसे ज्यादा खर्च नहीं करूँगा। एक हजारका खर्च क्या तुम मेरे लिए और अपने लिए भी काफी नहीं समझते हो ? तुम क्यों नहीं मेरी इस बातको मान लो कि एक हज़ार उड़ा देकर मैं लौट आऊँ, शेष चार हजार तुम्हारे तुम्हें सौंपूँ, और फिर वहीं अपने जङ्गली बसेरेपर पहुँच जाऊँ। मुझे आशा करने दो, श्याम, कि तुम समझदार हो। तुम मुझसे कुछ बरस छोटे हो, यही समझकर मैं तुम्हारे रुपयोंको अस्वीकार न कर सका था। यही देखकर मैंने तुम्हारी बात नहीं तोड़ी। मैं तुम्हारे लिए और भी ज्यादा कर सकता हूँ। अगर

तुम्हारे पास कुल पचास हजार रुपया हो और वह सबका सब भी तुम मुझे लुटानेके लिए देना चाहो तो मैं ले लूँगा और लुटा डालूँगा। दान-पुण्यमें नहीं, मात्र अपनेपर लुटा डालूँगा। लेकिन इस ढङ्गसे मुझद्वारा मिली हुई तुम्हारी तृप्ति तुम्हारी अपनी ही तृप्ति नहीं बनेगी। इसलिए एक हद तक ही वैसा सन्तोष मैं तुम्हें मिलने देना चाहता हूँ।

यह कहनेकी जरूरत नहीं कि तुम्हारी इच्छानुरूप मैं अब ढङ्गके कपड़ोंमें रहता हूँ। सूट-बूट सब ठीक किये ले रहा हूँ। यहाँकी सोसायटीमें भी प्रवेश कर लूँगा। जो होगा उसकी सूचना समय-समयपर तुम्हें देता रहूँगा। लेकिन, मुझे आशा करने दो कि मेरी एक महीनेकी सांसारिकतासे तुम्हें तृप्ति हो जायगी। देखो भाई, श्याम, तुम्हारे चार हजार रुपए मुझे तुम्हें लौटा देने दो। रुपया बहुत काम आता है। एक यही उस रुपएकी चरितार्थता नहीं है कि वह मुझपर खर्च हो। मैं उसके योग्य नहीं हूँ। वह भी शायद मेरे योग्य नहीं है। इसीलिए तो तुम देखते हो, कि अगर मैं उसकी परवाह नहीं करता तो उसीको मेरी कब परवाह है!

हाँ, कल वर्मा मिला था। याद आया? वही अपना वर्मा! यहीं होटलके हालमें एक मेज़पर अकेला बैठा तीसरे पहरके सन्नाटेमें शरबत पी रहा था। मुझे देखकर वह तपाकसे उठा नहीं। हम लोग जाना करते थे कि वह दुनियादार है। पर उस वक्त उस चेहरेपर दुनियादारी अनुपस्थित थी। ऐसा लगता था जैसे कोई संकल्प, कोई स्वप्न उसपर सवार हो। मैंने कहा—हलो वर्मा!

उसने तनिक स्वीकृतिमें सिर झुकाया और आवाज़ दी—बॉय।

बॉयके आजानेपर उसने मेरी तरफ़ देखकर कहा—क्या? शर्बत या...?

मैंने कहा—नहीं, कुछ नहीं।

उसने सिर घुमाकर कह दिया—बॉय, एक गिलास शर्बत, केवड़ा। हाँ ब्लाडी, केवड़ा।

इतना कह कर वह फिर अपने शर्बतके गिलाससे लग गया।

श्याम, वह उस वक्त हमारा पुराना वर्मा न था। भला कभी वह इतना बन्द, इतना मितवाक, इतना गुमसुम हो सकता था? क्या वह उन पुराने दिनोंमें सदा ही खिलकर बिखर पड़नेको उद्यत न रहा करता था? लेकिन मेज़-

पर बैठा हुआ वह वर्मा तो अपनेमें ही ऐसा समाया हुआ था मानो भीतर कोई बात उसके प्राणोंको डसकर बैठ गई है।

मेरे सामने शर्बत आ गया, लेकिन मैंने पिया नहीं। वर्माने भी कुछ नहीं कहा। वह कई कई सेकेण्ड बाद शर्बतका ज़रा-सा घूँट लेता था। इस तरह कई मिनट हो गये। अन्तमें जब उसके गिलासमेंसे आखिरी बूँद चूस ली गई और बर्फ़का एक छोटा-सा टुकड़ा ही बस वहाँ बाक़ी रह गया, तब अपने सामनेसे उस गिलासको दूर हटाकर वर्माने कहा—सदानन्द, मैं अभी तुम्हें ही याद कर रहा था। तुम बम्बईमें? यह भी क़िस्मत है!

मैंने कहा—वर्मा, मुझे मालूम न था कि तुम यहाँ रहते हो। बिलकुल और ही हो गये हो!

श्याम, यह मत समझना कि वर्मा उस वक़्त भी अपनी बाहरी धजमें वही चुस्त दुरुस्त न था। पर मालूम होता था कि जैसे वह अब उसकी आदतका हिस्सा है, मन उसका वहाँ नहीं है। उसने कहा—और हो गया हूँ! हाँ, शायद। दुनिया बदला करती है सदानन्द। ख़ैर, तुम यहाँ कल इस वक़्त मिलोगे तो?

मैंने कहा—वर्मा, मैं इसी होटलमें हूँ। आओ चलें, कमरेमें चलें।

"चलें?" वह अस्त व्यस्त-सा होकर बोला। "ख़ैर चलनेकी बात देखेंगे...। अच्छा सदानन्द, वह तुम्हारे मित्र श्याम कहाँ हैं?...लखनऊमें? वह तो दुनियाके नाकाम आदमियोंमेंसे नहीं है न? वह कामका आदमी है, क्यों सदानन्द? सुना है, उसकी बड़ी अच्छी शादी हुई है। उसकी बीबी..."

श्याम, तुम ही बताओ, मैं उस वक़्त वर्माको क्या समझता, क्या कहता? वह कुछ सुननेके 'मूड' में उस वक़्त न था, जैसे अपने ही भीतर कहीं गिरफ़्तार हो। आजकी शाम बीती जा रही है और अब तक वर्मा नहीं आया है। मैं ज़रूर उसके बारेमें तुम्हें लिखूँगा।

और कोई नई बात मेरे साथ नहीं है। तुम यक़ीन रख सकते हो कि तुमको मैं अपने बारेमें अँधेरेमें न रखना चाहूँगा।

तुम्हारा

२

लखनऊ, १० अक्टूबर

प्रिय भैया,

सादर वन्दे। आपके पत्रके लिए कृतज्ञ हूँ। आखिर इतने वर्षों बाद आपने लिखा तो।

मेरा ऐसा अनुमान है कि बम्बईमें तबीयत लगनेका गुण और जगहसे कुछ ज्यादा ही है। आपके बारेमें अवश्य तबीयत लगने न लगनेका प्रश्न इतना नहीं है, पर बात यह है कि आप एम० ए० में फर्स्ट क्या इसलिए आए थे कि दुनियासे आप विमुख बन जायँ और दुनियाको अपनेसे लाभ न पहुँचने दें? मुझे नहीं मालूम पहाड़की तराईके वृक्ष-पौधे आपसे कितना लाभ लेते होंगे। यों बम्बई आपसे लाभान्वित होनेको चिंतातुर है, ऐसा तो नहीं है; लेकिन वहाँ चूँकि मानव-सम्पर्क अनिवार्य है इसलिए समाजपर व्यक्तित्वकी कुछ छाप पड़ना भी अनिवार्य है। समाजके प्रति व्यक्तिमें विमुखता हो तो नहीं चाहिए न। इसीसे मैंने चाहा कि हिन्दुस्तानमें जहां सर्वाधिक कर्म-संकुलता है और जहाँ परस्पर बेहद रगड़ है, उस बम्बईमें आप अपनेको पायें। जंगलके लिए तो हीन-सामर्थ्य लोग अधिक उपयुक्त हैं। जहाँ होड़ इतनी तीव्र है कि एकके व्यक्तित्वकी सीमा-रेखाएँ दूसरेकी मर्यादाओंके साथ संघर्षमें आये बिना रह नहीं सकतीं, जहाँ व्यक्तित्व परस्पर रगड़में आकर एक दूसरेको छीलनेमें और एक दूसरेसे छीननेमें लगे हैं, ऐसी जगह ही एक सबल, स्वस्थ पुरुषका परीक्षण होगा। वहाँका निमन्त्रण आपको कैसे अस्वीकार करने दिया जाय?

रुपएकी बात कृपया न कीजिए। मैं भी उससे तङ्ग हूँ। उसके कमानेसे तङ्ग हूँ, उसके खर्च करनेसे तङ्ग हूँ। कमानेके लिए खर्चो, खर्च करनेके लिए कमाओ। कुछ निरर्थक-सा चक्कर है। पर जीवन है ही एक चक्कर। ग्रहण करो, विसर्जन करो। पाओ, खोओ। लो, दो। और थक जाओ, तो आंख मींच सो जाओ। जीवनकी परिभाषा ही यह है। हम पितासे जीवन लेते हैं, पुत्रको जीवन देते हैं। पिताको हम कुछ नहीं देते, पुत्र हमें कुछ नहीं देता। फिर भी पिताको भी देना पड़ा, हमें भी देना पड़ा, पुत्रको भी देना पड़ेगा। इन सबको फिर लेना भी पड़ा था।—संसारका यही चक्कर है। यहाँ ऋण झूठ है, उऋणता भी झूठ है।

जिससे लेते हैं उसे भला दे क्या सकेंगे ? और आपसे तो मैं लेता ही हूँ,—छुट-पनसे लेता आया हूँ। स्फूर्ति ली है, जिसे खर्चता हूँ उतनी बढ़ती है। तब इतनी दया करें कि रुपयोंकी बात न करें।

लीलाको क्या आपने देखा है ? शायद मुझे कहना चाहिए, श्रीमती लीला। वह तब चली गई थीं जब आप यहाँ थे। पर नामसे तो जानते ही हैं। लेकिन शायद यह न जानते होंगे कि वह आपको खूब जानती हैं। मैंने जब कहा कि आप बम्बई जा रहे हैं तब वह मेरी तरफ देखती रह गई। उनके मुँहसे धीमेसे निकला 'बम्बई ?' और वह मुझे देखती ही रह गई। मानो बम्बई मायापुरी हो और आप इतने साधु कि वह आपके अयोग्य हो।

मैंने कहा—क्यों, उनके बम्बई जानेपर ऐसी हैरतमें क्यों हो ?

वह बोलीं—नहीं, कुछ नहीं।

मैंने तब बताया कि तुम उन्हें जानती नहीं हो। वह भला बम्बई अपने आप जानेवाले हैं ? यह तो तुम्हारे इन सेवक पति श्याम बाबूकी खातिर है कि सदानन्द कुछ महीने वहाँ रहेंगे।

वह साश्चर्य बोलीं—तुम्हारी खातिर ?

मैंने कहा—हाँ, क्यों ? मुझे वह सगा छोटा भाई मानते हैं।

फिर वह धीमी पड़ गई। बोलीं—नहीं, कुछ नहीं।

क्षणेक चुप रहनेके बाद उन्होंने कहा—छोटा भाई मानते हैं तो तुम्हारे विवाहमें क्यों नहीं आये ? गौनेमें क्यों नहीं आये ? तुम्हारे बुलाते बुलाते भी यहाँ आते नहीं हैं, ऐसी ही तुम्हारी खातिर मानते हैं ?

मैंने हँसकर कहा—अरे भाई, वह जोगी ध्यानी हैं। विवाह आदिके बखेड़ोंमें उन्हें क्या राग है ?

इसपर वह कुछ नहीं बोलीं और चली गई। पर तीसरे पहर मैं अकेला था उन्होंने आकर कहा—बम्बईमें वह ठहरेंगे कहाँ ? मुझे उनका पता देना। उन वैरागीको आनेको लिखूँगी। लिख दूँ ?

मैंने कहा—क्यों नहीं, जरूर लिखो। मेरी तरफ़से भी लिख देना, आवें।

उसके जवाबमें उन्होंने कहा—तुम्हारी तरफ़से मैं क्यों लिखूँगी ? मैं अपनी तरफ़से लिखूँगी। बोलो, नहीं लिख सकती ?

मैंने कहा—अरे अरे, जरूर लिख सकती हो।

सो भैया, तुम्हारा पता मैंने उन्हें दे दिया है। शायद वह तुम्हें लिखें। सदानन्द, मैं उन्हें नहीं समझ पाता हूँ और तुम्हारी मदद चाहता हूँ।

वर्मा बम्बईमें है? मुझको मालूम नहीं था। कुछ और उसके बारेमें पता चला? मुझे उत्सुकता हुई है। बात यह है कि कहीं इस उम्रमें आकर प्रेमके प्रति वर्मा खुला है। यह एक मित्रने मुझे लिखा था। देरका नशा गहरा होता है। प्रेम भी इतने दिनों अपने दबे रहने, परास्त रहनेका, उसे भरपूर प्रतिफल देगा। उन मित्रका अन्दाज था कि कुछ ऐसी ही बात है। कालेजमें तो वर्माको खेलों और सोसायटीमें चमकनेसे फुर्सत न थी। और अब जरा दुनियाके लिए वह खाली हुआ है तब प्रेमने उसपर चोर-मार्गसे आकर धावा बोल दिया मालूम होता है। मुझे लगता है कि यही भेद उसके परिवर्तनके मूलमें दुबका बैठा है। वर्माकी तत्परता, उसकी साहसिकता, उसकी प्रकृतिका खुला खरापन,—ये सब कुछ इस प्रेम-व्यापारमें उसके खिलाफ ही कहीं न पड़ जायँ! देखिए, जरा उसकी ख़बरदारी भी रखिएगा। पत्र अवश्य देते रहिएगा। मुझे प्रतीक्षा रहेगी।

आपका

श्याम

३

लखनऊ, १० अक्टूबर

मेरे आनन, (मैं तुम्हें और क्या कहूँ?)

आज बम्बईका तुम्हारा पता मुझे मालूम हुआ तब यह पत्र तुम्हें लिख रही हूँ। उनसे पूछ कर लिख रही हूँ। उन्होंने कहा है, जरूर लिखो। वह जानते हैं कि मैं उनकी मार्फ़त तुम्हें जानती हूँ। मैंने उन्हें नहीं कहा कि ऐसा नहीं है। सदानन्द, यह कैसी विडम्बना है! सदानन्द, आज मेरा मन अशान्त है। बेहद अशान्त है।

मेरे विवाहको पाँच वर्षसे ऊपर हो गये हैं। तबसे मैंने तुम्हें कभी पत्र नहीं लिखा। कभी चाहा कि तुमसे मिलूँ? कभी नहीं चाहा। चाह कर भी मैं क्या पाती? मैं जानती थी कि तुम नहीं आओगे। मैं यह भी जानती थी कि तुमको नहीं आना चाहिए। पत्र लिखती तो क्या तुम उसका उत्तर देनेवाले

थे ? क्या इस पत्रका भी तुम उत्तर दोगे ?—और मुझे इससे दुख नहीं है। इस ज्ञानमें मुझे सुख है कि तुम दूर रहते हो, अप्राप्य रहते हो। क्या इसीलिए नहीं कि कहीं भीतर तुम मुझे पास भी पाते हो ? मैं यादमें हूँ तो मुझे भूलनेकी कोशिश कैसी ? इसलिए तुम्हारे समाचारका चिरन्तन अभाव, तुम्हारा अभाव, मुझे सुख देता रहता है कि तुम्हारे भीतर मैं हूँ, अभी भी वहाँसे निकली नहीं हूँ। और आज यही सुख मेरा सबसे बड़ा भारी दुख है। मैं यह जानकर क्यों सुखी होती हूँ कि तुम मुझे याद रख रहे हो ?

देखो सदानन्द, वे दिन अब नहीं हैं जब मैं लिली थी और तुम आनन हुआ करते थे। मैं आज गिरिस्तिन हूँ, तुम विरागी हो। मैं पतिव्रता हूँ, तुम ब्रह्मचारी हो। मैं घरमें हूँ, तुम बनमें हो। मैं दायित्वोंमें हूँ, तुम निर्द्वन्द्व हो। दुनियामें अपनी जगह मैं हूँ, तुम्हारी जगह तुम हो। सदानन्द, तुम मेरे लिए नहीं, मैं तुम्हारे लिए नहीं। तुम अपने लिए हो और, मुझे छोड़, सबके लिए हो। यही हाल मेरा है। बस, तुम्हारी ही नहीं, और सबकी सेवाका अधिकार मुझे प्राप्त है। कहते हैं, सब विधाताका विधान है। विधाताको मैं नहीं जानती पर उसीका विधान होगा। और नहीं तो किसका है ? उसीकी यह दुनिया है। हमारे मनकी यह कब है ? यों ही यह चलती है, यों ही चलेगी। लेकिन मेरी तबीयत कभी कभी बहुत घबरा जाती है, बहुत घबरा जाती है।

सदानन्द, बताओ, क्या वह विधान सब ठीक है ? क्या आनन झूठ था ? क्या वे दिन झूठे थे ? क्या लिली मिथ्या थी ? फिर वे दिन प्यारे क्यों लगते थे ? फिर क्यों एक दूसरेके लिए मरनेके अर्थ जीनेमें भी हमें हर्ष मालूम होता था ? तब समय रङ्गीन क्यों बन गया था और जगत क्यों सुखमय ? तब सब कुछ हँसता-सा क्यों दीखता था ? सदानन्द, उन दिनोंपर वर्षोंकी तहपर तह जम गई हैं, लेकिन उन सबके नीचे क्या वे दिन हरियाले लहलहाते हुए अब भी जी ही नहीं रहे हैं ? सदानन्द, मैं आज 'श्रीमती लीलावती' हूँ, पतिदेवकी धर्मपत्नी हूँ। लेकिन, इधर कई दिनसे ईश्वरके समक्ष भी कह रही हूँ और तुम्हारे समक्ष भी अब कहती हूँ कि मेरे भीतर वह 'लिली' भी है, और वह सदा रहेगी। आजकी धर्मपत्नी लीलावतीसे तनिक भी कम वास्तव नहीं है वह लिली। शायद है कि अधिक सत्य वह ही हो। सदानन्द, मुझे बताओ कि इस अपने भीतरके अत्यन्त सत्यको क्या पतिदेवके ओटमें ही सदा रखना होगा ? पाँच वर्षसे इस

जीवंत धड़कते हुए सत्यको अपने भीतर लिये ही लिये इस घरमें जी रही हूँ। इधर अब यह मेरे लिए दूभर हो चला है। मेरे पतिको तुम जानते हो। कैसे स्नेही हैं, कैसे सीधे हैं, कितने परायण हैं। लेकिन मैं इधर उनसे बहुत लड़ने लगी हूँ। उन्हें देखकर जी स्वस्थ रहता ही नहीं। वह हँसते हैं तो मैं कुढ़ती हूँ। जी होता है, अरे मैं मर क्यों न गई। सदानन्द, तुम विरागी हो, मुझे बताओ कि क्या जिंदगीके एकएक दिन ऐसे ही जीने होंगे? मैं तुम्हारे अत्यन्त प्रिय बन्धु,—अपने पतिसे बहुत अनमनी-सी रहने लगी हूँ। जब तब तकरार खड़ी करती रहती हूँ, जिससे कि कोई क्षण तो ऐसा बने कि मैं आवेशमें भूल जाऊँ और कह पड़ूँ कि पूर्ण सत्य क्या है। कह दूँ कि जो सती पतिव्रता देवी लीलावती हैं, उनके भीतर एक और है, उसका नाम है लिली। वह पतिदेवकी नहीं है, वह जाने किस,—औरकी है। अरे ओ मेरे स्वामी, मैंने उस लिलीको कुचल कुचल कर मिटा देना चाहा है, पर वह नहीं मिटी है,—नहीं मिटी है। मैंने यह तुमसे कह दिया है। अब जो कहो, वही करूँ।

पर सदानन्द, अपने विश्वासी पतिकी चिरप्रसन्न मुद्रा देखकर मेरी हिम्मत टूट जाती है। मैं उस निर्मल प्रसन्नताको कैसे तोड़ूँ? जहाँ खिलखिलाती धूप ही भरी है, काला बादल कहीं भी कोई नहीं है, उस स्वच्छ आकाशको कैसे एक साथ अपने मैलके स्फोटसे विक्षुब्ध कर दूँ? यह मुश्किल है। मुझसे नहीं होता, नहीं होता!

लेकिन हाय, अपने भीतरका यह बोझ भी कैसे ढोऊँ? कब तक ढोऊँ? सदानन्द, जीमें होता है एक दिन सबेरे उठकर अपने पतिपर अनगिनित लांछन लगा डालूँ, अपने मनको उनके प्रति कालिमासे भर लूँ और अपने प्रति बलात्कार-पूर्वक कह दूँ, 'तुम्हारा-सा पति मैं नहीं सह सकती, इसलिए मैं जाती हूँ' और इस घरकी छायाको छोड़ कर चल दूँ।

सदानन्द, तुम मुझे समझो। मेरी सारी व्यथा यह है कि क्यों मेरे पति इतने निश्छल, इतने उदार, इतने स्वरूपवान् हैं? क्यों वह मुझपर इतने विश्वासी, इतने स्नेही हैं? क्यों वह इतने कृपालु हैं? मेरे लिए सदानन्द, पति-कृपा असह्य हुई जा रही है। जबसे मैंने जाना है कि उन्होंने तुमको पाँच हजार रुपये देकर बम्बई भेजा है, तबसे मैं बेहद विक्षुब्ध हूँ। वह मुझे क्यों यों सताते हैं? मुझे मालूम होता तो मैं एक पैसा नहीं देने देती। तुम्हें क्या है,

राग न शोक। तुम्हारे लिए चाहे पाँच हजार ऐसे हों जैसे पाँच कोड़ी, लेकिन, मेरे मनपर तो वे जैसे मेरी ही क़ब्रका पत्थर बन कर बैठ गये हैं। तुम बताओ, ऐसे पतिको मैं पति कैसे मानूँ जो मुझे इतनी तकलीफ दे सकता है ? सदानन्द, तुम उनको लिखो कि मैं अयोग्य हूँ। नामसे नहीं तो गुमनाम पत्रसे ही उन्हें मेरे सम्बन्धमें चेता दो। उन्हें बता दो कि मैं पतिव्रता नहीं हूँ। मैं तुम्हारा अहसान मानूँगी।

या तुम्हीं बताओ, क्या हो ? क्या ऐसा हो सकता है कि तुम यहाँ आओ ? मैं कभी कभी सोच उठती हूँ कि हम दोनों एक दूसरेका हाथ पकड़कर उनके सामने चलें और मैं उनसे कहूँ कि ' सुनो जी, ब्याहसे पहले मैं लिली थी, यह आनन थे। ब्याहको लेकर हम दोनोंके बीचमें तुम आ गये। लेकिन मैं जानती हूँ, तुम महान् हो, तुम किसीके बीचमें आना नहीं चाहोगे। तब सुनो, क्या हम दोनों तुम्हारी इजाजतसे अब फिर वैसे ही नहीं हो सकते ? तुम क्यों पति बनते हो ?—क्योंकि तुम तो मेरे पूज्य हो।' सदानन्द, मुझे लगता है कि मैं तो इस तरहकी कोई बेवक़ूफ़ी कर बैठ भी सकती हूँ, क्योंकि मेरे भीतर तुम नहीं जानते कैसी यातना है। लेकिन, उनके चित्तको चोट देनेकी कल्पनापर ही मैं सिहर जाती हूँ। ओ राम, मेरे पति ज़रा भी नालायक क्यों नहीं हैं ? सदानन्द, मुझे बचाओ। मैं तुम्हारे साथ विलासमें भी जा सकती हूँ, नरकमें भी जा सकती हूँ, जङ्गलमें भी जा सकती हूँ, तुम्हारे साथ दुनियाकी कुत्साको भी मैं झेल लूँगी,—लेकिन यह जो मुझे स्वर्गमें रख रहे हैं, यह मुझसे नहीं झिलता। यह स्वामीका अकपट स्नेह, यह सर्व सन्तुष्ट गृहस्थी,—यह स्वर्ग मुझे निरन्तर काटता है।

मैंने इस पाँच हज़ार रुपयेकी बातपर उन्हें खूब कहा-सुना है। कहा है कि रुपया-पैसा उड़ाना ही तुम्हें आता है। पालने-पोषनेके लिए गृहस्थीमें तो जैसे कोई है ही नहीं। बस, मित्रोंमें ही वह खर्चा जाता है। मैं रूठी हूँ, मैं खीकी हूँ, मैंने न कहने लायक कहा है। पर वह मुस्करा देते रहे हैं, कह देते रहे हैं कि 'सदानन्दको तुम जानती नहीं हो'। उस समय जी होता है कि उन्हें गाली देकर अपना सिर फोड़ डालूँ, पर सब सहकर चुप हो गई हूँ। और सदानन्द, पाँच हज़ार क्या, कुछ भी वह तुम पर वार देंगे। सदानन्द, तुम मेरी विपता समझते ही हो। बताओ, यह सब मैं कैसे सहूँ ? अपनी क्षुद्रताको मैं ऊपर ला-

कर दिखा देना चाहती हूँ, पर पतिकी अनायास महत्ताके नीचे कुचली जाकर वह मेरी क्षुद्रता अत्यन्त सन्त्रस्त है। सदानन्द, मुझ क्षुद्रको यहाँसे उबारो। मुझे इस स्वर्गसे तोड़ कर चाहे कहीं भट्टीमें झोंक देना। मैं वहाँ सुखी रहूँगी। सदानन्द, आओ। बताओ, मैं क्या करूँ ? क्या करूँ ?

तुम्हारी
लिली

४

बम्बई, १ नवम्बर

श्याम,

क्षमा करना, मैं इस बीच तुम्हें पत्र न लिख सका। कुछ उलझा रहा। अब सुनो, मैं तीन तारीखको लखनऊ पहुँच रहा हूँ। नहीं, दलील न करो। मैं बम्बई नहीं रहूँगा। और अपने बाक़ी बचे चार हज़ार रुपये तुम चुपचाप ले लोगे,—समझे ? चाहो तो उन्हें फेंक देना। पर अब मैं तुम्हारे ख़ातिर भी वह रुपया न ले सकूँगा।

तुम्हारी धर्मपत्नी लीलावतीजीको मैं जानता हूँ। उन्हें मेरा प्रणाम कहना और कहना मैं तीन तारीख़को उनके घर पहुँच रहा हूँ।

हाँ, एक ख़बर है। अभी पढ़नेको मिला, वर्माने आत्म-घात कर लिया है। वर्मा और आत्म-घात ! अखबारकी कटिङ्ग साथ भेजता हूँ। पढ़कर मन सन्न रह जाता है। श्याम, इस अजब दुनियामें आदमी भी अजब जानवर है। शेष मिलनेपर।

तुम्हारा
सदानन्द

विस्मृति

दूसरे विवाहकी जो बहू आई हैं उनके सिरमें दर्द अधिक रहता है। और पहली स्त्रीका जो लड़का है विपिन वह पाँच वर्षका हो गया है फिर भी बदशऊर बना हुआ है। उसमें अक़ल तो ख़ाक भी नहीं है। अपनी नई माँका कहना नहीं मानता, इतनेपर ही बस नहीं है—वह उनके सामने बेअदबी तक कर बैठता है और जवाब देने लगता है। ऐसे अवसरोंपर अवश्य इन नई माँने उसे कभी कुछ दुरुस्त भी कर दिया है। पर किस माँकी कोखसे यह कुलच्छनी उपजा है विपिन, कि कभी कुछ नहीं सीखेगा,—ऐसा ही कुटेवी बना रहेगा!

इसलिए घरके चौका-बासन और चीज-वस्तकी सँभाल और बच्चे विपिनकी फिकर विपिनकी दादीके ऊपर ही आ गई है। उनकी अवस्था पचाससे दो-एक साल ऊपर होगी। देह भी अक्षम नहीं है। तन्दुरुस्ती भी खासी है।

सबेरे तड़के उठ जाती हैं और संध्या तक करनेको उन्हें काम ही काम रहते हैं। हारी थकी रातको सोती हैं। पर नींद उन्हें बड़े आरामकी और बड़ी गहरी आती है।

कामका यह चक्र आरम्भमें ही इतने बँधे रूपसे नहीं चल पड़ा था। तब उनके मनमें आशाएँ थीं, आकांक्षाएँ थीं। वे ही असन्तोष पैदा करती थीं और काममें बाधा डालती थीं। पर, फिर तो वह सब कुछको तिलाञ्जलि दे बैठीं और काममें लग गई। काम-काम-काम, बच्चेको न्हिला-खिला कर चुकीं कि चूल्हेका समय आ गया, फिर बासन-चौका, उसके बाद कुछ कपड़े-लत्तोंका सीना उधेड़ना ही ले बैठीं, नहीं तो चर्खा। और यों बहूकी दवा-दारू और टहल भी उन्हें काफी समयका काम दे देती थी।

पहले सोचती थीं—अब तो बहू आ गई है। बड़भागन हो, पूतों फले! अब तो मैं पीढ़ेपर बैठ कर कहूँगी, 'बहू पान तो लगाकर एक लाना,' और दोपहर तीसरे पहर कभी कहूँगी, 'बहू, आज तो मेरे सिरकी चोटी

ठीक कर दे।' और नहीं तो मैं ही उसका सिर गोदमें ले बैठा करूँगी और उसके बालोंको काढ़कर ठीक करके भानूके कमरेमें भेज दिया करूँगी। और विपिनको भी एक माँ मिलेगी, जिसके साथ वह खेला करेगा—

पर बहूके सिरमें तो दर्द बहुत रहता है और वह चौका वगैरह कुछ भी काम नहीं कर पाती है। और विपिन बेहूदा ऊधमी लड़का है।—सो, उसके मनकी बात पूरी नहीं हुई। मनमें जो था उसे मनके ही भीतर कहीं खूब अच्छी तरह गाड़ कर उसे बैठना पड़ा।

पर यह सहज न था। पहले तो अड़चनें पड़ीं। बहू सासमें कहा-सुनी होती, और फिर बहू एकमें और सास दूसरे कमरेमें जाकर पड़ रहतीं। इस तरह रोटी कभी बनती कभी नहीं बनती।

लाला भानामल अपनी दुकानसे आकर देखते। बहूके पास जाकर कहते—क्या बात है?

बहू मुँह फेर लेतीं।

भानामल प्रेमसे उसका हाथ पकड़ कर पूछते—शशि, बात क्या है?

और शशिकला कहती—क्या बात है! जाकर पूछो न अपनी माँसे, क्या बात है! और तुम सब लोग मुझे मारना चाहते हो तो एकदमसे क्यों नहीं मार डालते जो टंटा मिटे!

लाला भानामल घबड़ाकर पूछते—ऐसी क्या बात हुई, बताओ भी तो?

शशिकला कहतीं—बात हुई कि मैंने कहा 'अम्मा जी, मेरा सिर बड़ा दुखता है, नेक आज तुम रोटी बना लोगी?' सो इसी बातपर जाने क्या क्या बात उन्होंने मुझे नहीं सुनाई। मैं पूछती हूँ कि जब मैं मरने लगूँगी तब भी तुम लोग यही तो समझोगे न कि बहाना है?

बहूसे निबटकर भानामल माँके पास जाकर कहते—माँ क्या बात है?

माँ कहतीं—कुछ बात नहीं है, बेटा।

भानामल कहते—माँ, उसने कहा था तो तुम एक दिन रोटी नहीं बना सकती थीं?

माँ कहतीं—बना सकती थी बेटा, और बना दिया करूँगी। रोटी तो मैं बनाती ही थी। सोचती थी, बहू आ गई है। चलो, दो रोजको मुझे भी बिसराम मिल जायगा। पर, न सही बिसराम, मैं ही रोटी बना दिया करूँगी। मेरा इसमें जाता क्या है। और, कामसे तो आदमी अच्छा ही रहता है।

भानामल—अम्मा, उसके सिरमें दर्द रहता है। और वह कोई झूठ तो कहती नहीं। और रोग ऐसी चीज है कि न जाने कब बढ़ जाय।

माँ—हाँ, बेटा, ठीक तो है। चलो, मैं चौकेमें चलती हूँ। अभी बनाये देती हूँ रोटी।

आरम्भमें ऐसी कहा-सुनी जिस किसी भी बातपर हो जाती थी; पर, सदा ही, अन्तमें माँको अपना मन मार लेना होता था। वह हार जातीं और झुक जातीं। सोचतीं, मेरे दिन, जो दिन थे, गये। तब गर्दन उठाती तो उठा कर रख भी सकती थी। अब तो मेरे दिन झुक कर चलनेके आ गये हैं। यह सोच मनके भीतर बड़ी टीस पैदा कर देता। पर उसीको जीमें बहुत नीचे गाड़ देकर और काममें लग जाकर वह मानो थोड़ा आराम भी अनुभव करतीं। धीरे धीरे अपना मन मार कर बैठनेकी उनकी बान ही हो गई। चोट खा खाकर फनकी तरह उठ खड़े होनेकी शक्ति ही मानो उनके मनकी सो गई। मानो उनका मन ऐसा निर्विकार निःस्पंद हो गया है कि चोट उन्हें लगती ही नहीं। एक डेढ़ सालके भीतर उस वृद्धा माताके मनने ऐसी शक्ति उपजा ली (अथवा, ऐसी शक्ति खो दी) कि जिससे वह मान-अपमान, रोष-क्षोभ अथवा स्पर्द्धा आदि भावोंका शिकार होनेसे मुक्त हो गया। ऐसा समय आनेपर सासके कामोंका क्रम और बहूके सिर-दर्दका सिलसिला यथावस्थित और अनुपराम गतिसे चलने लगा।

२

परिवारके कई व्यक्तियोंके बीचमें रहकर भी मानो इस बड़े घरमें वह अकेली रहती थी। अठारह वर्षकी अवस्थामें उसके यह पुत्र भानामल हुआ। अब उस भानामलकी अवस्था पैंतीसके लगभग है। पन्द्रह सालका था तब उसके पिता उठ गये। तभीसे वह अपनी पंसारीकी दुकानपर बैठता है।

पिता उसके सिरपरसे उठ गये, तभी देखा गया कि भानामल मूर्ख नहीं है। वह बँधकर अपनी दुकानपर बैठता है और अपना ब्याह करके अपनी गृहस्थी जमा लेना चाहता है।

माँने बड़े उछाहसे बेटेका ब्याह किया। और अब वही माँ बेटेके जीवनके लिए किसी भी भाँति अनिवार्य नहीं रह गई है। घरका सब काम-धाम सँभालती है, ठीक है; उसकी माँ है, ठीक है; पर भानामल सवेरे ही सवेरे दूकान

चला जाता है, और आता है तो चुपचाप जल्दीसे खाना खाकर बहूके कमरेमें चला जाता है। अपनी माँसे कहने-सुननेके लिए जैसे उसके पास न कोई बात है, न जरूरत ही है।

अपने धनीके निधनके बाद, और विशेष कर अपने भानाके विवाहके बाद, माँ अपनेको सबके निकट पराया और सबके बीच अकेली अनुभव करने लगी है। ठीक जब उसके जीका प्यार, जीका समस्त अपनापन, केन्द्रहीन, लक्ष्यहीन हो जानेके कारण उमड़ उमड़ कर भर भर आकर और मानो अपनी बाँहें फैलाकर निमन्त्रण देता हुआ डोलने लगा 'ओ अरे, कोई है जो मेरा है? अरे, कौन है जो मेरा है?' तभी मानो उसे सब ओरसे प्रत्युत्तर मिला, 'बुढ़िया, हम मौजमें हैं। तेरी आवश्यकता हमें नहीं है। तू जा।' तब वह ऊपर शून्यकी ओर देख उठती, मानो पूछती, 'अरे ओ मेरे प्राणनाथ, मुझे छोड़कर तू उड़कर कहाँ चला गया है? निर्मोही, यहाँ मेरा कोई नहीं है, मेरे लिए अरे कुछ भी नहीं है।'

इस स्थितिमें अधिक रहना उसके लिए असहनीय हो जाता। भीतरकी शून्यता उसके चारों ओर व्याप्त होकर मानो उसे निगल लेना चाहती। तब वह उठकर काम करने लगती। ऐसे समय अधिकतर भूखे मनसे वह बहूके पास जाती, पूछती, 'बहू जी कैसा है? मैं माथा दाब दूँ?'

बहू एक शब्दमें उत्तर देती—नहीं।

सास अपने खोखले उपद्रवी मनको बड़े अंकुशसे दाबकर कहती—बहू, मुझे तो अब और कुछ काम नहीं है। ला थोड़ा तेरा सिर दाब दूँ, कुछ चैन ही पड़ेगा।

पर, बहूका मन तो हर समय ऐसा खट्टा अनमना-सा रहता है कि उसे कुछ नहीं भाता। हर समय सामने सूखी दीवार और आलेमें रखी हुई दवाईकी शीशियोंको देखते देखते अपनेको और हर किसीको कोसते रहनेमें ही उसका मन इतना लगा रहता है कि और किसी चीजमें उसे स्वाद ही नहीं रह गया है। वह नहीं समझ सकी कि वह किस प्रकार अपनी सासकी उद्यत सेवाओं और उसके स्नेह-सतृष्ण मनको अंगीकार करे। वह इतना ही कह सकी, 'मुझे कुछ नहीं चाहिए' और करवट लेकर सामने देखती हुई चुप पड़ गई।

देखते देखते एकाएक ही उसने फिर गीत गुनगुनाना आरम्भ कर दिया। अनायास ही उसकी ध्वनि कुछ स्पष्ट हो उठी। उसने गाया...। पर, गीतको एक साथ ही रोककर वह जैसे सावधान हो गई और मनोयोगपूर्वक बासन माँजने लगी।

निबट कर वह अपनी कोठरीमें आई। आज उसके भीतर क्या भूला हुआ छिड़ उठा है कि वह मूक हो गई है। वह जैसे किसी दूरागत संगीतको सुननेमें लगी है, स्वयं सब कुछ भूल बैठी है।

कुछ देर चुप बैठी रहकर उसने अपना एक बक्स खोला, तहके तह कपड़े उसमेंसे निकाले और नीचेसे जन्मपत्रीकी तरहसे लिपटा हुआ एक कागज निकाला। उस कागजको लेकर पढ़नेकी जल्दी उसने नहीं की। जल्दी उसे किसी बातमें, किसी काममें, नहीं थी। उसने ठीक ढंगसे कपड़े तह कर उसी बक्समें रक्खे और फिर वह चिट्ठी हाथोंमें लिये हथेलीपर अपनी ठोड़ी रख कर खिड़कीमेंसे पार क्षितिजको देखती हुई बैठी रह गई।

वह कागज़ क्या है ? उसका वह क्या करेगी ? फाड़ देगी ? फैंक देगी ? उसको वह क्या करना चाहती है ? और उसे क्यों यों हाथोंमें लिये चुप बैठी है ?

पर वह बैठी ही रही। कुछ देर बाद उसने उसे खोला। खोलते खोलते अन्तमें उसमें एक बहुत छोटा-सा पीले कागज़का टुकड़ा निकला जिसमें पेन्सिलसे कुछ लिखा था। उसे भी उसने पढ़ा नहीं और उतनेसे टुकड़ेको फिर हाथोंमें लिये रह कर वह उसी भाँति बैठी रही।

बैठीकी बैठी ही वह कहाँ पहुँच गई, क्या हो गई ? इस टुकड़ेको हाथमें थामे काल और देशकी समस्त रेखाओंके ऊपर वह इस समय क्या हो उठी है कि उसका निमेष नहीं लगता और उसके चेहरेमें चमक आती जा रही है।

उसने अनुभव किया : वह पीला कागज़ उसके हाथोंमें अभी हाल आया है, अभी किसीने कंकड़ीमें बाँधकर खिड़कीकी राह उसके चरणोंमें फैंक दिया है और अभी पढ़कर वह उसे चुकी है !

धीरे धीरे उसने कागज़ खोला। खोलकर पढ़ा। क्या पढ़ा ?—क्या छत्तीस बरस पुराने उस कागज़परके पेंसिलके हरफ पढ़नेमें आ सकते थे ? पर, उसने पढ़ लिया !

पत्रके अक्षर उसके मनके भीतर एक एक अंकित थे। पुराने घावकी तरह उभड़ कर वे हरे हो गये। उनके उत्तरमें आज वह जैसे समग्रकी समग्र उद्यत हुई प्रस्तुत बैठी है। 'प्यारी तैयार रहना, '— और आज उसका मन 'प्यारी' शब्द सुनकर किस बातके लिए तैयार नहीं है ?

उसने पाया : मंगलकी रात है, एक बज गया होगा, चाँदनी अभी निकली है और वह घरकी चौथी मंज़िलवाले सूने कोठेपर दबे पाँव पहुँच गई है। वहाँ ही आ पहुँचा वह जिसके लिए वह है, और जिसने उसे तैयार रहनेके लिए लिखा है।

आते ही उसने कहा—देर न करो, रानी, चलो।

रानीने उसे कसकर पकड़ लिया, कहा—चलूँ ! मेरी सगाई हो गई है। मुझे डर लगता है।

"डर लगता है ?"

"मैं कैसे चलूँ ?"

"क्यों ?'

उस समय उसके मनमें आया, अरे, वह प्रेमके लिए क्या नहीं कर सकेगी। पर उसका गला भर उठा और उसने उससे चिपट-कर कहा—मुझे भूल जाओ।

व्यक्तिने धीमे-से उसे अपनेसे पृथक् किया, कहा—तो नहीं जा सकोगी ?

"नहीं जा सकूँगी। कैसे जा सकूँगी, मुझे तुम भूल जाओ।"

व्यक्ति तुरन्त न बोल सका। फिर इतना ही बोला—तो नहीं ही जा सकोगी ?

तब मानो ज़ोरके साथ उसने अपनेसे ही कहा था, 'क्या, मैं अपनी हूँ ? मैं जा सकती हूँ ?—नहीं, मेरी सगाई हो गई है।'

मानो किसी गहरी चोटके स्थलपर छिड़कर उस व्यक्तिने कहा—तुम अपनी नहीं हो, तो मेरी भी नहीं हो ! उसकी नहीं हो जो तुम्हारे लिए जीता है, और मरेगा तब तुम्हारे लिए मरेगा ! तुम उसकी हो जो तुम्हें नहीं जानना चाहता, नहीं पाना चाहता, पानेके लिए कुछ करना नहीं चाहता, पर सगाई जिसके नामके साथ हुई है ? प्राणोंके मोल तुम्हें जो पाना चाहता है उस प्रेमकी तुम नहीं हो ! गृहस्थीके और बच्चोंके लिए जो तुम्हें ले लेगा उस विवाहकी तुम हो,—क्यों ?

तब सरलाने क्या कहा ? तब जो उसने कहा, किया, अब यहाँ बावन वर्षकी अवस्थामें बैठी हुई सरला मानो वह नहीं करना चाहती। चाहती है वह उसका कहा हुआ,—किया हुआ फिर जाता और इतिहास नया आरम्भ होता।

उसने, तब, दोहरा दिया था, 'प्रेम !' और वह सहमी-सी रह गई थी।

उस व्यक्तिने चीखकर कहा—क्या ?

इस व्यथाकी चीखको सुनकर वह गल जानेको हो गई, पर चुप रही।

व्यक्तिने गरजकर कहा—तू क्या चाहती है कि मैं मर जाऊँ और तू जीती रहे ? मैं तेरे बिना नहीं जीऊँगा, और मरूँगा तो तुझे भी जीती नहीं छोड़ूँगा।

उस समय जिस उद्वेग और कंपन और पुलकका सरलाने अनुभव किया था, वही मानो उसके गातमें अब भी हो उठा। वह मानो अब भी खिड़कीमेंसे उसके आ जानेकी प्रतीक्षा कर रही है जो कहे, 'तेरे बिना मैं जीऊँगा नहीं,' और उसके आगे कहे, 'तेरे लिये मरूँगा और तुझे भी जीता नहीं छोड़ूँगा।'

पर, सरलाने तब कहा था—मैं हाथ जोड़ती हूँ, ज़ोरसे मत बोलो, कोई जग जायगा। और तुम चले जाओ।

व्यक्तिने भयंकर धैर्यके साथ कहा—मैं चला जाऊँ ?

सरला डरती हुई उसे देखने लगी।

पर, धीरज रहा नहीं, और वह बोला—कम्बख़्त, तू कहती है मैं चला जाऊँ ?—जाऊँगा और तुझे मिटाके जाऊँगा।

उस समय सरलाके मनमें भय हो उठा था। आज वह सोच रही है कि वह आमंत्रणपूर्वक अपने प्रेमीके हाथों मर क्यों नहीं जा सकी। वह भयभीत हो कुछ भी नहीं बोल सकी थी।

उस व्यक्तिने तब अलग खड़े होकर कहा—बोल, तू जीना चाहती है ? या मरनेकी हिम्मत भी रखती है ?

सरलाने तब क्यों हाथ फैलाकर और छाती खोलकर नहीं कहा, 'मुझे गोदमें ले लो प्यारे, और मुझे मार दो। मैं जीना नहीं चाहती।' हाय, क्यों नहीं तब वह यह कर सकी, क्यों भीता चकिता-सी गुम ही बैठी रही।

व्यक्तिने अत्यंत विषाद, घृणा, और करुणाके स्वरमें कहा—तू जीना चाहती है ! अभागिन, ओछी नारी, तू जी।

इसके बाद उस व्यक्तिने अपने दोनों हाथोंमें उसे ले लिया। टुक देर उसकी आँखोंमें आँख लगाए देखता रहा। वह उस समय डर रही थी।

पुरुषने कहा—डरती हो! नहीं, डरो नहीं।

कहकर उसने उसे छोड़ दिया। फिर बिना पीछेकी ओर देखे मुँडेरपर चढ़ वह तीन मंजिल नीचे उस गलीकी ईंटोंपर गिरकर मर गया!

वह आज बैठी-बैठी उस कागज़को हाथमें लेकर उसी मरे व्यक्तिको देखने लगी जो उसके लिए ऐसी साधसे जिया था और जो उसके लिए क्षणमें मर भी गया। वह पाप-पुण्य नहीं जानती। वह इतना जानती है कि वह क्षण उसके जीवनमें फिर आ सके तो वह अपनेको मौतसे न बचाये, और वह उस व्यक्तिके साथ, मौतके मुहमें ही चाहे हो, कृतार्थ भावसे चली जाय।

इस स्मृतिके साथ ही वह अपने विफल यौवनको मानो फिरसे अपने भीतर ऐसी तरंगें लेता हुआ अनुभव करती है कि मृत्यु, अपनी विभीषिका तजकर, प्रिय और तुच्छ वस्तु हो रहती है।

...उसे दीख उठा—वही, एक छोटा-सा अपराध करके सामने मुस्कराता हुआ खड़ा है, और क्षमा माँग रहा है। और, वह बड़ी बिगड़ी हुई है।

उसने कहा—रानी, तुम नाराज़ हो रही हो! जानती हो, इससे तुम कितनी और सुंदर नहीं हो जातीं?

तब मन ही मन वह गर्वसे भर उठी, बोली—चुप रहो।

उसने कहा—तो मुझे सज़ा ही दे दो।

तब भी उसने कहा—चुप रहो।

इसपर वह उसके पैरोंको पकड़कर चूमने लगा।...

उस समय अद्भुत भावसे उद्वेलित हो वह सहसा उठकर खड़ी हो गई। उसे लगा, उसके पैर चूमे जा रहे हैं और वह अपने पैर हटा नहीं रही है, जैसे कि उसने तब भी नहीं हटाये थे।...

तभी क्या देखती है कि एक व्यक्ति उसके सामने आकर कह रहा है—माँ...

वह कुछ नहीं पहचान सकी। देखकर उसे यही बोध हुआ कि वह उसका प्रेमी नहीं है। फिर यह क्या है, जो उसे 'माँ' कहकर पुकार रहा है! उसको, जो अविवाहिता है, किशोरी है!

भानामलने कहा—माँ, शशिकी दवा तुमने तैयार करके अभी तक क्यों नहीं दी ?

वह देखती ही रह गई, कुछ समझ नहीं पाई।

इतनेमें विपिनने आकर कहा—दादी !...

'दादी !'—वह स्तंभित, मानो विडम्बनामें, सन्न रह गई।

तभी, क्षण बीतते बीतते, एकाएक यथार्थताका बोध उसपर फटकर पड़ा ! वह खो-सी रही। फिर,—फिर अत्यंत विनीत स्वरमें उसने कहा—दवाई ! अभी बनाए देती हूँ बेटा, दवाई।

भानामलने चलते चलते कहा—माँ, दवाके मामलेमें अबसे लापर्वाही नहीं होनी चाहिए।

माँने कहा—अच्छा बेटा।

और माँने सोचा, एक मिनट खाटपर मैं जरा और बैठ लूँ तो दवामें बहुत देर तो नहीं हो जायगी ? पर, वह बैठी नहीं, दवाईके लिए चल दी।

परदेसी

१

दो पगडंडियोंका संधिस्थल। ज़रा पीछे एक कुटी। एक पगडंडीसे एक स्त्री जा रही है। दूसरीसे एक पुरुष आता है।

पुरुष—भद्रे, मैं दूरसे आता हूँ। मुझे प्यास लगी है।

महिला—(पुरुषकी ओर देखती है।)

पुरुष—यहाँ पानी मिलेगा ?

महिला—पानी! (देखती है।)

पुरुष—मैं प्यासा हूँ।

महिला—मेरे हाथ रीते नहीं हैं। आँचलमें फूल हैं। मैं अभी आकर पानी दूँगी। वहाँ छाँह है, बैठें।

पुरुष—फूल कहाँ लिये जाती हो ?

महिला—वह सामने देवालय दीखता है। वहाँ मैं इनको चढ़ाकर अभी लौटकर आती हूँ।

पुरुष—भद्रे, मुझको प्यास लगी है। फूल मुझे दे जाओ, पानी ला दो।

महिला—कहती हूँ, मैं अभी आती हूँ। देर नहीं लगाऊँगी।

पुरुष—नहीं। फूल रहने दो और पानी ला दो। फिर फूल ले लेना।

महिला—बहुत प्यास लगी है ? तनिक देर ठहर जाओ। मैं अभी लौटकर आती हूँ।

पुरुष—नहीं। फूल मुझको दे दो और पहले पानी ला दो। मैं बहुत दूरसे आ रहा हूँ।

महिला—बटोही, मैं सवेरे ही भगवान्‌को फूल चढ़ाती हूँ। आज देर हो गई है। मेरा जी अच्छा नहीं था। कहती हूँ, मैं अभी आती हूँ। तबतक तुम छाँहमें सुस्ताओ। बहुत दूरसे आ रहे हो।

पुरुष—लाओ मुझे दो फूल। मैं चढ़ा दूँगा।

महिला—नहीं, नहीं,—

पुरुष—मैं बहुत अच्छी तरह देवतापर फूल चढ़ाऊँगा।

महिला—तुम कैसे बटोही हो! चलो, मुझे जाने दो। (जाना चाहती है।)

पुरुष—भद्रे, मैं प्यासा हूँ। वे कौन देवता है जो फूल चाहते हैं! मैं पानी चाहता हूँ, उससे ज्यादा वे फूल चाहते हैं!

महिला—बटोही, तुम कैसी बात करते हो? मुझे जाने दो।

पुरुष—तुम्हारे देवता कैसे हैं! मुझसे अच्छे हैं!

महिला—बटोही, हटो। मुझे जाने दो।

पुरुष—बटोहीको पानी देना छोड़कर देवता पूजने जाओगी, भद्रे!

महिला—बटोही, तुम बड़े अनजान हो। तुम कौन हो! बड़े निश्शङ्क हो!

पुरुष—परदेसी हूँ। बहुत दूरसे आ रहा हूँ। बहुत देश और बहुत नाम पीछे छोड़ता आ रहा हूँ। तुमसे शङ्का करूँ!

महिला—मेरे पास फूल हैं और मेरे हाथ फँसे हैं। मुझे जाने दो, परदेसी। लौटकर मैं तुम्हें ठंडा पानी दूँगी।

पुरुष—फूल भी मुझे दे दो।

महिला—चुप रहो, बटोही। तुम ढीठ हो।

पुरुष—मैं प्यासा हूँ, भद्रे।

महिला—प्यासे हो तो मैं नहीं जानती।

पुरुष—देवताको तुम कबसे जानती हो! क्या वे प्यासे हैं! सुनता हूँ, इस लोकके देवता पत्थर होते हैं।

महिला—चुप रहो, बटोही।

पुरुष—तो मैं चुप रहूँ और चला जाऊँ, यही तुम कहती हो!

महिला—नहीं,—नहीं, यह नहीं। पर अभी बैठो। मैं शीघ्र आऊँगी।

पुरुष—तो मैं चला ही जाता हूँ।

महिला—मैं बहुत जल्दी लौट आऊँगी। सच, देर नहीं होगी।—कह तो रही हूँ।

पुरुष—जैसे मैं चलता चला आ रहा हूँ, वैसे ही यहाँसे भी चलता चला जाऊँगा। जाओ, तुम देवताके पास जाओ।

महिला—बटोही, तुम हठी हो। मैं कहती हूँ, मैं अभी आ जाऊँगी।

पुरुष—हाँ, तुम जाओ। मैं अपनी बाट चला जाऊँगा। मुझे तो चलना ही है।

महिला—प्यासे जाओगे ?

पुरुष—क्या उपाय है ? तुम तो देवालय जा रही हो।

महिला—हाँ, मैं देवालय जा रही हूँ।

पुरुष—तो जाओ।

महिला—लेकिन तुम बैठो।

पुरुष—नहीं भद्रे, तुम जाओ, मैं भी जाता हूँ।

महिला—तो,—बहुत प्यासे हो ?

पुरुष—बहुत ? नहीं—

महिला—तो लाती हूँ पानी। लो। (महिलाने फूलों-भरा आँचल बढ़ाया कि परदेसी फूल ले। परदेसी यों ही खड़ा रहा।)

महिला—अब लो इन्हें, मैं पानी लाऊँ।

पुरुष—कहाँ लूँ ? मेरे पास कोई वस्त्र तो नहीं है।

महिला—तो क्यों माँगते थे ?

पुरुष—कितने फूल हैं ? अँजलीमें आ जायँगे ?

महिला—नहीं आयँगे।

पुरुष—तब इतने फूल बताओ कैसे लूँ ?

महिला—उत्तरीयमें ले लो।

पुरुष—उत्तरीयमें ? अच्छा लाओ।

महिला—लेकिन एक बात है। तुम यहीं रहना, इसी जगह। और इन्हें ख़राब मत करना। ये पूजाके कामके हैं। और तुम सावधान नहीं हो।

पुरुष—मैं यहीं रहूँगा। ख़राब नहीं करूँगा, मैं सावधान रहूँगा।

महिला—बटोही, फिर तुम पानी पीकर चले जाओगे ?

पुरुष—नहीं तो क्या—

महिला—कहाँ जाओगे ?

पुरुष—पता क्या कि कहाँ कहाँ जाऊँगा।

महिला—पता नहीं है, कहाँ कहाँ जाओगे ? अच्छा, आश्रय कहाँ पाओगे ? बस्तीमें ?

पुरुष—आश्रय ! बस्ती ! क्यों ?

महिला—बहुत दूरसे आ रहे मालूम होते हो। ज़रा विश्राम करके जाना।

पुरुष—लेकिन तुम तो देवालय जाओगी ?

महिला—देवालयसे तुरन्त ही लौट आऊँगी।

पुरुष—अच्छा।

पुरुष अपने उत्तरीयमें फूल ले लेता है। महिला जाती है। पुरुष मुस्कराता रह जाता है। कुछ देर बाद महिला एक पात्रमें जल लेकर आती है।

महिला—लो।

पुरुष—ये भी तो तुम लो।

पुरुष महिलाके ऊपर फूल बिखेर देता है। फिर हाथ बढ़ाकर पात्र लेता है। लेने लेने तकमें पात्र महिलाके पैरोंके पास गिर जाता है। महिला अप्रसन्न होती है, कुछ प्रसन्न भी होती है।

महिला—तुम बड़े ख़राब हो जी। मैं और फूल कहाँसे लाऊँगी ?

पुरुष—और फूल क्यों लाओगी ?

महिला—देवताकी पूजा कैसे होगी ?

पुरुष—और यह पूजा किसकी हुई है ?

महिला—तुम देवता हो ! आये बड़े देवता !

पुरुष—तुम तो हो ! तुमपर फूल भी बिखरे, जल भी चढ़ गया।

महिला—चुप रहो।

पुरुष—रुष्ट हो ? अच्छा, मुझे क्षमा करो। लो, फूल मैं उठाये देता हूँ।

पुरुष झुककर महिलाके पैरोंपर और आसपास पड़े हुए फूलोंको इकठ्ठा करता है।

महिला—हैं ! हैं ! धरतीके फूल !

पुरुष—तो क्या हुआ ? फूल तो फूल हैं।

महिला—वे अब किस कामके रह गये हैं ?

पुरुष—वे अब बड़े कामके हो गये हैं।

महिला—मैं अब ख़ाली हाथ देवालय कैसे जाऊँ ?

पुरुष—मत जाओ।

महिला—तुम बड़े दुष्ट हो।

पुरुष—तो दुष्ट अपनी राह जाता है। जाऊँ ?

महिला—ज़रा विश्राम करके जाना।

पुरुष—अच्छा।

[दोनों कुटीकी ओर लौटकर जाते हैं।]

२

महिला अकेली रहती है। उसकी अभी नई उम्र है। बस्तीसे बाहर अलग अपने आप रहती है।

अतिथिने पूछा—तुम यहाँ अकेली क्यों रहती हो ? माता-पिता नहीं हैं ?

महिला—हैं। उन्होंने मुझे अकेले रहनेको छोड़ दिया है।

पुरुष—वे बस्तीमें रहते हैं ? उन्होंने तुम्हें अकेले रहनेको क्यों छोड़ दिया है ?

महिला—हाँ, बस्तीमें रहते हैं। बस्तीमें भले आदमी रहते हैं। मैंने सुना है, मैं भली नहीं हूँ। इस वास्ते उन्होंने छोड़ दिया है।

पुरुष—तुम क्यों भली नहीं हो ?

महिला—ठीक मैं नहीं जानती। कुछ दिन हुए, एक कुमार आया था। वह मुझे एक उद्यानमें मिला था। वह बहुत अच्छा था और यह याद नहीं रखता था कि दुनिया भी है। मैं भी तब दुनियाको भूल जाती थी। मैं रोज़ उद्यान जाती थी कि कहीं कुमार मिल जाय। माने कहा, 'यह भला नहीं है। तू वहाँ मत जाया कर। वह लड़का बड़ा खराब है।' मैंने कहा, 'अम्मा जी, वह खराब नहीं है।' उन्होंने कहा, 'चल दूर हो, अब वहाँ मत जाना।' मैं वहाँ नहीं गई। पर दिन मुझे फीका लगता था और रातको नींद कठिनाईसे आती थी। किसी भी काममें जी नहीं लगता था। सब सूनासूना लगता था, पर, माँ-बापकी आज्ञा तोड़कर मैं जाना नहीं चाहती थी। माँ-बाप मुझे चाहते थे,—मेरी भलाई चाहते थे। ऐसे कई दिन बीत गये। मेरे मनपर पत्थर-सा बैठता जाता था।—मैं क्या करूँ ?—एक रोज़ मुझे दिखाई दिया कि कुमार हमारी खिड़कीकी तरफ़ देख रहा है। मैं खिड़कीके पास नहीं गई, पर दूरसे छिपकर देखती रही। कुमार वहाँ बहुत देरतक खड़ा रहा। कभी थककर वह टहलने लगता था।—फिर वहीं आकर खड़ा हो जाता था। मुझे उसपर बड़ी दया आई। मनको

बड़ा बुरा मालूम हुआ। मैंने खिड़कीके पास आकर कहा, 'कुमार, तुम चले जाओ।' कुमारने कहा, 'मैं मर रहा हूँ।' मैंने कहा, 'कुमार मेरा जी भारी है। अम्माजी नाराज़ होती हैं। तुम चुप चले जाओ।' कुमारने कहा, 'मेरा जी बड़ा व्याकुल है। ऐसे मैं कैसे जिऊँगा?' मैं फिर नहीं बोल सकी। मेरी आँखोंमें आँसू आ गये। कुमार भी रोने लगा। तब मुझसे सहा नहीं गया और मैं लौट आई। अम्माजीको इस बातकी सूचना हुई। उन्होंने कहा, 'तू वहाँ कुमारसे बातें करती थी? वह बड़ा खराब आदमी है।' मैंने कहा, 'अम्मा, कुमार ख़राब नहीं है।' उसके बाद कई दिनोंतक मैं देखती रही कि कुमार आता है। पर मैं खिड़कीपर नहीं जाती थी। मेरा मन भीतरसे भर भर आता था, पर मैं रोक लेती थी। सोचती थी—अम्माजी कहती हैं कि यह ठीक नहीं है, और मैं कोई बुरा काम नहीं करूँगी। मेरा मन सबेरेसे उसी घड़ीकी बाट देखता रहता था जब कुमार आता था। पर जब घड़ी पास आ जाती तब मैं घबरा जाती थी। उससे पहले मैं बार बार खिड़कीके पास जाती थी। मैं जानती थी कि कुमार जब नहीं है तब खिड़कीके पास जानेमें बुराई नहीं है। उसमें फ़ायदा कुछ नहीं था, पर हर्ज भी कुछ नहीं था और मेरा मन बहलता था। पर जब कुमार वहाँ दिखाई दे जाता तब मैं भाग आती थी और फिर खिड़कीके पास नहीं जाती थी। न जाने तब चित्तकी हालत कैसी रहती थी! फिर मुझको नहीं पता, क्या हुआ। एक दिन मेरी माने मुझे बहुत धमकाया और कहा, 'निकल जा मेरे यहाँसे, कुलच्छनी।' मा मुझे बहुत प्यार करती थी। पर जब वह कहती थी कि कुमार बुरा आदमी है तब मुझे बुरा लगता था। मैं कहती थी, 'कुमार बुरा नहीं है।' इसपर वह मुझे मारती थी। तब मैं जोरसे कहती थी, 'कुमार, बहुत अच्छा है।' तुम्हीं बताओ, मुझको कुमार अच्छा दिखता था तब मैं उसको बुरा कहा जाता हुआ कैसे सुन सकती थी? सो सब मैं सह लेती थी, पर कुमारके सामने नहीं होती थी। एक दिन मुझे माने धक्का देकर घरसे बाहर कर दिया। बाहर खड़ी खड़ी मैं सोचने लगी, क्या करूँ। मैं माके मनको जानती थी। मुझसे उनका जी बड़ा क्लेश पाता था। मैं उनको दुख देना नहीं चाहती थी। मैं कैसे कहती कि मा, मुझे भीतर ले लो। मैं यह नहीं कह सकती थी और मैं चली आई। तभीसे मैं यहाँ रहती हूँ। बटोही, मैंने सच सच बात कह दी है। अब तुम

देख लो कि मैं भली नहीं हूँ। कुमार फिर मुझे नहीं मिला। न जाने वह कहाँ है। बटोही, मुझे अकेलापन अच्छा नहीं लगता है। देखो परदेसी, तुम्हें बस्तीके लोग यहाँ आनेके कारण भला नहीं कहेंगे। मुझे वे बहुत खोटी खोटी बातें कहते हैं। पर मैं नहीं चाहती कि तुम्हें भी कोई खोटी बात कहे। तुम परदेसी हो। तुम्हें लोगोंकी खोटी बातकी परवा न हो तो, परदेसी, तुम कुछ रोज यहाँ रहकर चले जाना। मेरा जी लग जायगा। यहाँ कौन कब आता है?

पुरुष—मैं समझा—

महिला—तुम क्या समझे परदेसी, और तुम चुप क्यों हो गये?

पुरुष—कुछ नहीं।...देखो, मैं प्रवासी हूँ। मुझको खरा-खोटा नहीं छूता। मैं यहाँ कुछ रोज़ रहूँगा।

महिला—परदेसी, तुम किस देशके वासी हो? तुम्हें खरा-खोटा नहीं छूता?

पुरुष—मैं अनेक देश-देशान्तरोंमें घूमा हूँ। पर यह तुम लोगोंका देश न्यारा है। और सब जगह तो ऐसे खरे-खोटेकी बात नहीं है। भद्रे, क्या तुमको पक्का मालूम है कि तुम खोटी हो?

महिला—हाँ, मैं ऐसा ही जानती हूँ। नहीं तो लोग मुझे क्यों दुरदुराते?

पुरुष—एक और लोक भी है। इस तुम्हारे लोकसे वह अगला है। वहाँ सब उलट जाता है। जो यहाँ दुरदुराया जाता है, वहाँ उसका आदर होता है। यहाँका दुखी वहाँ सुख पाता है। तुम उस लोकके बारेमें कुछ नहीं जानतीं?

महिला—क्या परलोक?

पुरुष—हाँ, परलोक।

महिला—मैंने सुना है, परलोक होता है। पर मैं कुछ जानती नहीं। सुना है, यहाँसे लोग वहाँ जाते हैं।

पुरुष—जो सुना है वह मिथ्या नहीं है। अच्छा, तुम कुमारको पहचानती हो?

महिला—परदेसी, तुम कैसी बात करते हो? कुमारको नहीं पहचानूँगी?

पुरुष—लेकिन सच, पहचानती हो?

महिला देखती है। देखती है कि जो सामने है वह कुमार ही तो है।

महिला—तुम! परदेसी!

पुरुष—भद्रे, क्या आश्चर्य है? मैं ही तो हूँ।

महिला—तुम बड़े ख़राब हो!

पुरुष—मैं परदेसी हूँ, रानी, मैं प्रवासी हूँ।

महिला देखती है। देखती है कि सामने कुमार कहाँ, परदेसी ही तो है!

३

एक पर्वत-शिखर। नितान्त हिममण्डित। पुरुष बादलके एक घोड़ेकी अयाल थामे खड़ा है। घोड़ेके मुखमें फेन है, देहमें विद्युत्। पुरुष अपार दूर तक बिछी पृथ्वीको देख रहा है। वह प्रतीक्षामें है। उसे शायद कहीं दूर जाना है।

महिलाका प्रवेश

महिला—आखिर तुम पा गये!

पुरुष—आओ। देखो, मेरी यात्रा प्रस्तुत है।

महिला—तुम रात न जाने कहाँ विलीन हो गये। मैं खोजती फिरी। मैं रात सोई नहीं। जो यंत्र तुमने मुझे अपने हृदयमें धारण करनेको दिया था उससे मैंने तुम्हारा पता बहुत पूछा। उसने भी नहीं बताया। अब सवेरे आखिर उसने बताया कि तुम यहाँ हो। मैं भागी आ रही हूँ। परदेसी, तुम्हें क्या हुआ है! तुम्हें ऐसा नहीं चाहिए। मुझे तुमने बेहाल कर दिया।...तुम क्या कहीं जा रहे हो?

पुरुष—हाँ, मैं जा रहा हूँ।

महिला—कहाँ जा रहे हो?

पुरुष—तुम्हें क्या बताऊँ, भद्रे। अपने भ्रमणपर चला जा रहा हूँ।

महिला—कब लौटोगे?

पुरुष—छिः! छिः! कैसी बात करती हो?

महिला—नहीं लौटोगे?

पुरुष—कैसी बच्ची ऐसी बात करती हो! अरे लौटना कहीं होता है!

महिला—मुझे छोड़कर चले जाओगे?

पुरुष—देखो, यह घोड़ा मुझे ले जानेके लिए आ पहुँचा है। देखो, यह कितना बेताब है। जो घड़ी जानेकी बँध गई है उसी पल यह मुझे उड़ा ले जायगा। क्षण-भरकी देर न होगी। मैंने कहा न था, भद्रे, कि मैं परदेसी हूँ, प्रवासी हूँ। कूचका समय आया तब मैं क्या ठहरूँगा? इसमें तुम चिन्ता क्यों करती हो?

महिला—अरे परदेसी, क्या तुम जानते हो, मेरी क्या हालत है ? तुमने मुझे ममतामें क्यों डाला ? हाय ! मैं सर्वस्व गँवा बैठी और तुम जा रहे हो।

पुरुष—भद्रे, दुनियाकी जैसी बातें न करो। कोई कुछ नहीं गवाँ सकता, और क्लेश तो भूल है। सबके कूचका पल बँधा है, और मैं तो प्रवासी हूँ।

महिला—परदेसी, निठुराई मत करो। मेरी हालत देखो। मैं तुम्हारा नाम भी तो नहीं जानती ! मैं क्या करूँगी ? कैसे करूँगी ?

पुरुष—नाम-धाम दुनियादारीकी बातें हैं। और मैं परदेसी हूँ। मेरा नाम क्या होगा ?

महिला—ओ परदेसी, मुझे ठगकर तुम कहाँ जाते हो ? मैं ठगी गई, और मैंने बुरा नहीं माना। पर अब तुम जाते कहाँ हो ? मेरा सब-कुछ तुम्हारा है। वह छोड़कर मत जाओ। छूटकर मैं कहाँ रहूँगी ?

पुरुष—भद्रे, दुख मत करो। देखो, यह क्षण अन्तिम है। घोड़ा सुम पटक रहा है। जानेका पल अब आया, अब आया। पर क्या तुम्हें दुखी देखते हुए जाना होगा ? रानी, हँसो कि मैं जाता हूँ। क्या हमने परस्पर कम सुख जाना है ? उसको जीमें बसाकर हम किस दुखको चुनौती नहीं दे सकते ? क्या उस सुखको हम इतना हलका बना दें कि कोई भी दुख उसपर भारी हो जाय ? हमारा संयोग सब वियोगोंसे सत्य है। संयोग क्षण-कालिक था, वियोग चिर-कालिक है। फिर भी संयोग ही सत्य है।

महिला—परदेसी, तुम्हारी बातसे मुझे डर होता है। तुम कौन हो ? तुम्हारा क्या नाम है ? नाम मुझे बताये जाओ। इतना सहारा तो मुझे दो।

पुरुष—मैं परदेसी हूँ, नाम-धाम सब पीछे छोड़ता जाता हूँ। अनन्त नाम मैंने धारे हैं, पर वे अलग ही रहते हैं। संज्ञातीत परदेसीको तुम क्या याद रक्खोगी ? उसे 'परदेसी' ही जानो। याद कुछ मत रक्खो। याद दुख है। वे संयोग-सुखके क्षण ही अपने साथ शाश्वत बनाकर रहो जो हमने अपनेको परस्पर खोकर पाये हैं।

महिला—ओ निर्दय ! निर्मम !

पुरुष—रानी, क्या अपने ही सुखके प्रति हम अकृतज्ञ बनें ? तुम्हारा सुहाग उन्हीं सुखके क्षणोंमें है जो अमर हैं। मैं घूमता ही रहता हूँ। उसी घूमनेमें अब आगे बढ़ा जा रहा हूँ। तुम्हें कैसे बताऊँ कि तुमसे कितना जीवन लिये जा रहा हूँ ? पर उसकी बात नहीं करूँगा, कहकर उसे हलका नहीं करूँगा।

महिला—हाय, मैं क्या करूँ ? तुम बड़े निष्ठुर हो।

पुरुष—निष्ठुर ! रानी तुम नहीं जानतीं।

महिला—तब मुझे छोड़के क्यों जाते हो, राजा ! मत जाओ, मत जाओ।

पुरुष—रानी, रोओ नहीं। हँसो कि मैं जाता हूँ। देखो, तुम्हारी उन दिनोंकी हँसी मेरे भीतर अब भी जीवित है। वह चाँदनी-सी तुम्हारी हँसी मुझसे खोई नहीं जायगी। उसीको थाम कर मैं तुम्हारे रोनेको हँसकर सह जाता हूँ। मत रोओ, रानी। रोना क्रूरता है।

महिला—मैं नहीं जानती थी, तुम ऐसे हो !

पुरुष—रानी,—

महिला—मैं जान रही हूँ, तुमने मुझे खिलौना समझा। हाय ! मैं क्या करूँ !

पुरुष—(घोड़ेपर चढ़नेको उद्यत होकर) रानी, मैं यह नहीं सहना चाहता। क्या वह तुम्हारी प्रतिमा मैं अपने भीतर फीकी होने दूँ जो मग्न है और स्निग्ध है, जो खिलते फूलकी तरह मेरे भीतर सदा खिलती ही जायगी ! नहीं, वह प्रतिमा मुझसे नहीं छिन सकती। रानी, तुम वही हो। यों विलाप करनेवाली अबला तुम नहीं हो। उठो, प्रसन्न होओ। माताको प्रसन्न रहना चाहिए।

महिला—माताकी बात करते तुमको दया क्यों नहीं आती ! अरे, उसका बच्चा किसे अपना बाप कहेगा, यह तक क्या वह मा जानती है ?

पुरुष—भद्रे, यह क्या कहती हो ?

महिला—क्या कहती हूँ ! यह पूछते हुए तुम लजाते क्यों नहीं हो !

पुरुष—ओह ! मैं समझा। तुम्हारी दुनियामें पिताका नाम ओढ़े हुए बच्चे होते हैं। यह कैसी तुम्हारी दुनिया है !

महिला—ओ परदेसी, कैसी निलज्जी बात करते हो !

पुरुष—बिना बापके नामके बच्चे क्या यहाँ होते ही नहीं ! यह जगत् क्या इतना अभागा है !

महिला—बेहया मत बन जाओ, परदेसी।

पुरुष—लेकिन क्यों ? मैं कई लोकोंमें घूमा हूँ। इसी तुम्हारी दुनियाके एक पुरुषका नाम मैंने अनेक लोकोंमें सुना। जहाँ सुनी बड़ाई ही सुनी। वह बिन बाप था।—तुम उसका नाम नहीं जानतीं ! मैंने सुना था कि इस दुनियाके सब लोग उसे जानते हैं और बड़ा मानते हैं।—यीशुको तुम नहीं जानतीं !

महिला—ओ परदेसी !

पुरुष—यह कैसी तुम्हारी अभागी दुनिया है? मा यहाँ इसलिए दुखी होती है कि मा है! छिः! छिः! यह कैसी निकम्मी बात है।

महिला—परदेसी, मैं नहीं जानती, तुम किस लोककी बात करते हो। मुझे अपनी सुध नहीं है। मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैंने तुम्हें पाया, यह बहुत पाया। तुम जाते हो? अच्छा जाओ। तुम मेरे लिए बहुत हो। तुम्हें पाकर मैं अपने भाग्यपर शंकित हो हो जाती थी। मैं क्या इतनेके योग्य थी? अगर तुम जाते हो तो मैं उस भाग्यको कोसूँगी नहीं। तुम जाओ। पर मैं सोचती थी, कहीं तुम ठहर जाओ तो कैसा हो! लेकिन, मैं भाग्यसे अपनी पात्रतासे इतना अधिक पा चुकी हूँ कि और कुछ भी उससे माँगनेका मेरा मुँह नहीं है। मैं नहीं सोचती कि मैं दिन कैसे काटूँगी। नहीं। मैं कोई स्वार्थकी बात नहीं सोचती। मैंने सब तुम-पर वार दिया। अब क्या मैं यह सोचूँ कि तुम मेरे लिए क्या छोड़कर जा रहे हो?

पुरुष—धन?

महिला—नहीं, नहीं। धन मुझे नहीं चाहिए।

पुरुष—भद्रे, धन,—

महिला—नहीं, नहीं। मुझे नहीं चाहिए।

पुरुष—भद्रे, धन मैल है और प्रेम निर्मल है। रानी, यह मैल तुम्हारी दुनियाका शाप है। मैं परदेसी हूँ, मैं उस मैलसे मैला नहीं हूँ। मैं—

महिला—नहीं, मैं वह कुछ नहीं सोचती। पर मेरा बच्चा दुनियाका अपमान न सहेगा। तुम दुनियाको नहीं जानते। मैं अपमानको उसे छूने नहीं दूँगी।

पुरुष—अपमान! रानी तुम नहीं जानतीं। दुनियाका अपमान विनीत मस्तकपर स्वीकार करनेसे पवित्र बनता है। वह सम्मान हो जाता है। तुम यह समझकर भली भाँति पहचान लो। और सुनो, तुम्हारा बिना बापका बच्चा दुनियाका राजा होगा। ऐसा राजा होगा जिसके पैरों तक दुनियाका मुकुट नहीं पहुँच सकेगा। रानी, यह ब्रह्माण्ड बड़ा है और तुम्हारी दुनिया बहुत क्षुद्र है।

महिला—नहीं, नहीं, नहीं। तुम नहीं जानते। मैं अपने बच्चेका अपमान नहीं सहूँगी। मैंने दुनियाका सब खोटा सुना। पर अपने बच्चेका खोटा नहीं सहूँगी। ऐसा ही होगा तो मैं उसे जनमते ही मार दूँगी।

पुरुष—ओह! ऐसी तुम्हारी मूढ़ दुनिया! वह अपने चलनसे माके दिलमें बच्चेके लिए ऐसे हिंसभाव पैदा कर सकती है! रानी, यह तुम क्या कहती हो?

महिला—तुम नहीं जानते,—तुम नहीं जानते, परदेसी ।

पुरुष—मैं तुम्हारी दुनियाको नहीं जानता । पर तुम्हारी दुनिया भी बड़ी दुनियाको नहीं जानती, रानी ।

महिला—परदेसी, तुम कौन हो ? तुम्हें देखकर मेरी आँख झिपती है । मुझे बच्चेके बापका नाम नहीं चाहिए । पर बताओ, तुम कौन हो । मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ । तुम जाओ, मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ । तुम चले ही जाओ । यह दुनिया भी तुम्हारे योग्य नहीं है । मैं यहाँ जैसे-तैसे रह लूँगी, पर तुम जाओ । तुम वहाँके लिए हो, जहाँ क्षुद्रता नहीं है । तुम जाओ, लाख बरस जिओ और सदा राजा रहो, मेरे राजा । मैं आज अपने सौभाग्यको स्वीकार करती हूँ । उसको लेकर लोकका अपमान भी स्वीकार करूँगी । अपने महा-सौभाग्यकी बातको भीतर लेकर विनीत रहूँगी और मेरे राजा, तुमसे कहती हूँ, टूटूँगी नहीं ।

पुरुष—तुम्हारा पुत्र निष्कलुष हो, प्रेमसे दृढ़ हो और जीवनमें जयी हो ।

महिला—पर मुझे बता जाओ, तुम कौन हो ? मुझे अपने लिए बता जाओ । (पुरुषका चरण-रज लेती है ।)

पुरुष—मैं,—(बिजली तड़पती है । बादलका घोड़ा निनाद करता है, पुरुष कूदकर उसपर सवार होता है ।) समझो, मैं देवदूत हूँ ।

घोड़ेको एड़ लगाकर वह उड़ चलता है । महिला, स्तिमित, देखती रहती है ।

पत्नी

शहरके एक ओर एक तिरस्कृत मकान। दूसरा तल्ला। वहाँ चौकेमें एक स्त्री अँगीठी सामने लिये बैठी है। अँगीठीकी आग राख हुई जा रही है। वह जाने क्या सोच रही है। उसकी अवस्था बीस-बाईसके लगभग होगी। देहसे कुछ दुबली है और सम्भ्रान्त-कुलकी मालूम होती है।

एकाएक अँगीठीमें राख होती हुई आगकी ओर स्त्रीका ध्यान गया। घुटनोंपर हाथ देकर वह उठी। उठकर कुछ कोयले लाई। कोयले अँगीठीमें डालकर फिर किनारे ऐसे बैठ गई मानो याद करना चाहती है कि 'अब क्या करूँ?' घरमें और कोई नहीं है और समय बारहसे ऊपर हो गया है।

दो प्राणी इस घरमें रहते हैं, पति और पत्नी। पति सवेरेसे गये हैं कि लौटे नहीं हैं और पत्नी चौकेमें बैठी है।

वह (सुनन्दा) सोचती है,—नहीं, सोचती कहाँ है, अलस-भावसे वह तो वहाँ बैठी ही है। सोचनेको है तो यही कि कोयले न बुझ जायँ।...वह जाने कब आयेंगे। एक बज गया है।—कुछ हो, आदमीको अपनी देहकी फिक्र तो करनी चाहिए।...और सुनन्दा बैठी है। वह कुछ कर नहीं रही है। जब वह आयेंगे तब रोटी बना देगी। वह जाने कहाँ कहाँ देर लगा देते हैं। और कब तक बैठूँ। मुझसे नहीं बैठा जाता। कोयले भी लहक आये हैं। और उसने झल्लाकर तवा अँगीठीपर रख दिया। नहीं, अब वह रोटी बना ही देगी। उसने जोरसे खीझकर आटेकी थाली सामने खींच ली और रोटी बेलने लगी।

थोड़ी देर बाद उसने जीनेपर पैरोंकी आहट सुनी। उसके मुखपर कुछ तल्लीनता आई। क्षण-भर वह आभा उसके चेहरेपर रहकर चली गई और वह फिर उसी भाँति काममें लग गई।

कालिन्दीचरण (पति) आये। उनके पीछे पीछे तीन और उनके मित्र भी आये। वे आपसमें बातें करते चले आ रहे थे और खूब गर्म थे। कालिन्दीचरण मित्रोंके साथ सीधे अपने कमरेमें चले गये। उनमें बहस छिड़ी थी। कमरेमें पहुँच-

कर रुकी हुई बहस फिर छिड़ गई। ये चारों व्यक्ति देशोद्धारके सम्बन्धमें बहुत कटिबद्ध हैं। चर्चा उसी सिलसिलेमें चल रही है। भारतमाताको स्वतन्त्र करना होगा,—और नीति-अनीति, हिंसा-अहिंसाको देखनेका यह समय नहीं है। मीठी बातोंका परिणाम बहुत देखा। मीठी बातोंसे बाघके मुँहसे अपना सिर नहीं निकाला जा सकता। उस वक्त बाघका मारना ही एक इलाज है। आतंक! हाँ, आतंक। हमें क्या आतंकवादसे डरना होगा? लोग हैं जो कहते हैं, आतंकवादी मूर्ख हैं, वे बच्चे हैं। हाँ, वे हैं बच्चे और मूर्ख। उन्हें बुजुर्गी और बुद्धिमानी नहीं चाहिए। हमें नहीं अभिलाषा अपने जीनेकी। हमें नहीं मोह बाल-बच्चोंका। हमें नहीं ग़र्ज़ धन-दौलतकी। तब हम मरनेके लिए आजाद क्यों नहीं हैं? ज़ुल्मको मिटानेके लिए कुछ ज़ुल्म होगा ही। उससे वे डरें जो डरते हैं। डर हम जवानोंके लिए नहीं है।

फिर वे चारों आदमी निश्चय करनेमें लगे कि उन्हें खुद क्या करना चाहिए।

इतनेमें कालिन्दीचरणको ध्यान आया कि न उसने खाना खाया है, न मित्रोंके खानेके लिए पूछा है। उसने अपने मित्रोंसे माफी माँगकर छुट्टी ली और सुनन्दाकी ओर चला।

सुनन्दा जहाँ थी, वहीं है। वह रोटी बना चुकी है। अँगीठीके कोयले उल्टे तवेसे दबे हैं। माथेको उँगलियोंपर टिकाकर वह बैठी है। बैठी बैठी सूनी-सी देख रही है। सुन रही है कि उसके पति कालिन्दीचरण अपने मित्रोंके साथ क्यों और क्या बातें कर रहे हैं। उसे जोशका कारण नहीं समझमें आता। उत्साह उसके लिए अपरिचित है। वह उसके लिए कुछ दूरकी वस्तु है, स्पृहणीय और मनोरम और हरियाली। वह भारतमाताकी स्वतन्त्रताको समझना चाहती है; पर उसको न भारतमाता समझमें आती है, न स्वतन्त्रता समझमें आती है। उसे इन लोगोंकी इन जोरोंकी बातचीतका मतलब ही समझमें नहीं आता। फिर भी, उत्साहकी उसमें बड़ी भूख है। जीवनकी हौंस उसमें बुझती-सी जा रही है,—पर वह जीना चाहती है। बहुत चाहा है कि पति उससे भी कुछ देशकी बात करें। उसमें बुद्धि तो जरा कम है, फिर भी धीरे धीरे क्या वह भी समझने नहीं लगेगी? सोचती है, कम पढ़ी हूँ, तो इसमें मेरा ऐसा कसूर क्या है? अब तो पढ़नेको मैं तैयार हूँ। लेकिन पत्नीके साथ पतिका धीरज खो जाता है। खैर, उसने सोचा है, उसका काम तो सेवा है। बस, यह मानकर उसने जैसे कुछ समझनेकी

चाह ही छोड़ दी है। वह अनायास भावसे पतिके साथ रहती है और कभी उनकी राहके बीचमें आनेकी नहीं सोचती। वह एक बात जान चुकी है कि उसके पतिने अगर आराम छोड़ दिया है, घरका मकान छोड़ दिया है, जान बूझकर उखड़े उखड़े और मारे मारे जो फिरते हैं,—इसमें वे कुछ भला ही सोचते होंगे। इसी बातको पकड़कर वह आपत्तिशून्य-भावसे पतिके साथ विपदापर विपदा उठाती रही है। पतिने कहा भी है कि तुम मेरे साथ क्यों दुख उठाती हो। पर सुनकर वह चुप रह गई है, सोचती रह गई है कि देखो, यह कैसी बात करते हैं। वह जानती है कि जिसे 'सरकार' कहते हैं, वह सरकार उनके इस तरहके कामोंसे बहुत नाराज़ है। सरकार सरकार है। उसके मनमें कोई स्पष्ट भावना नहीं है कि 'सरकार' क्या होती है; पर यह जितने हाकिम लोग हैं, वे बड़े जबर-दस्त होते हैं। और उनके पास बड़ी बड़ी ताकतें हैं। इतनी फौज, पुलिसके सिपाही और मजिस्ट्रेट और मुन्शी और चपरासी और थानेदार और वाइसराय,—ये सब सरकार ही हैं। इन सबसे कैसे लड़ा जा सकता है? हाकिमसे लड़ना ठीक बात नहीं है। पर यह उसी लड़नेमें तन-मन बिसार बैठे हैं। खैर, लेकिन ये सबके सब इतने ज़ोरसे क्यों बोलते हैं? उसको यही बहुत बुरा लगता है। सीधे सादे कपड़ोंमें एक खुफिया पुलिसका आदमी हरदम उनके घरके बाहर रहता है।—ये लोग इस बातको क्यों भूल जाते हैं? इतने ज़ोरसे क्यों बोलते हैं?

बैठे बैठे वह इसी तरहकी बातें सोच रही है। देखो, अब दो बजेंगे। उन्हें न खानेकी फिक्र, न मेरी फिक्र। मेरा तो खैर कुछ नहीं; पर अपने तनका ध्यान तो रखना चाहिए। ऐसी ही बेपरवाहीसे तो वह बच्चा चला गया...उसका मन कितना भी इधर-उधर डोले; पर अकेली जब होती है, तब भटक-भटकाकर वह मन अन्तमें उसी बच्चे और बच्चेके अभावपर आ पहुँचता है। तब उसे बच्चेकी बड़ी बड़ी बातें याद आती हैं। वे बड़ी प्यारी आँखें, छोटी छोटी अँगुलियाँ और नन्हें नन्हें ओठ याद आते हैं। अठखेलियाँ याद आती हैं। और सबसे ज्यादा उसका मरना याद आता है। ओह! यह मरना क्या है। इस मरनेकी तरफ उससे देखा नहीं जाता। यद्यपि वह जानती है कि मरना सबको है,—उसको मरना है, उसके पतिको मरना है; पर उस तरफ भूलसे छन-भर देखती है तो भयसे भर जाती है। यह उससे सहा नहीं जाता। बच्चेकी याद उसे मथ उठती है। तब वह विह्वल होकर आँख पोंछती है और हठात्

इधर-उधरकी किसी कामकी बातमें अपनेको उलझा लेना चाहती है। पर अकेलेमें, वह कुछ करे,—रह-रहकर वही-वह याद,—वही-वह मरनेकी बात उसके सामने हो रहती है और उसका चित्त बेबस हो जाता है।

वह उठी। अब उठकर बरतनोंको माँज डालेगी, चौका भी साफ करना है। ओह! खाली बैठी मैं क्या सोचती रहा करती हूँ।

इतनेमें कालिन्दीचरण चौकेमें घुसे।

सुनन्दा कठोरतापूर्वक शून्यको ही देखती रही। उसने पतिकी ओर नहीं देखा।

कालिन्दीने कहा—सुनन्दा, खानेवाले हम चार हैं। खाना हो गया?

सुनन्दा चूनकी थाली और चकला-बेलन और बटलोई वगैरह खाली बरतन उठाकर चल दी, कुछ भी बोली नहीं।

कालिन्दीने कहा—सुनती हो, तीन आदमी मेरे साथ और हैं। खाना बन सके तो कहो; नहीं तो इतनेमें ही काम चला लेंगे।

सुनन्दा कुछ भी नहीं बोली। उसके मनमें बेहद गुस्सा उठने लगा। यह उससे क्षमा-प्रार्थी-से क्यों बात कर रहे हैं,—हँसकर क्यों नहीं कह देते कि कुछ और खाना बना दो। जैसे मैं ग़ैर हूँ। अच्छी बात है, तो मैं भी गुलाम नहीं हूँ कि इनके ही काममें लगी रहूँ।—मैं कुछ नहीं जानती खाना-वाना। और वह चुप रही।

कालिन्दीचरणने ज़रा ज़ोरसे कहा—सुनन्दा!

सुनन्दाके जीमें ऐसा हुआ कि हाथकी बटलोईको खूब ज़ोरसे फेंक दे। किसीका गुस्सा सहनेके लिए वह नहीं है। उसे तनिक भी सुध न रही कि अभी बैठे बैठे इन्हीं अपने पतिके बारेमें कैसी प्रीतिकी और भलाईकी बातें सोच रही थी। इस वक्त भीतर ही भीतर गुस्सेसे घुटकर रह गई।

"क्यों? बोल भी नहीं सकतीं।"

सुनन्दा नहीं ही बोली।

"तो अच्छी बात है। खाना कोई भी नहीं खायगा।"

यह कहकर कालिन्दी तैशमें पैर पटकते हुए लौटकर चले गये।

कालिन्दीचरण अपने दलमें उग्र नहीं समझे जाते, किसी क़दर उदार समझे जाते हैं। सदस्य अधिकतर अविवाहित हैं, कालिन्दीचरण विवाहित ही नहीं हैं, वह एक बच्चा खो चुके हैं। उनकी बातका दलमें आदर है। कुछ लोग उनके

धीमेपनपर रुष्ट भी हैं। वह दलमें विवेकके प्रतिनिधि हैं और उत्तापपर अंकुशका काम करते हैं।

बहस इसी बातपर थी कि कालिन्दीका मत था कि हमें आतंकको छोड़नेकी ओर बढ़ना चाहिए। आतंकसे विवेक कुंठित होता है; और, या तो मनुष्य उससे उत्तेजित हो रहता है, या उसके भयसे दब रहता है। दोनों ही स्थितियाँ श्रेष्ठ नहीं हैं। हमारा लक्ष्य बुद्धिको चारों ओरसे जगाना है, उसे आतंकित करना नहीं। सरकार व्यक्तिके और राष्ट्रके विकासके ऊपर बैठकर उसे दबाना चाहती है। हम इसी विकासके अवरोधको हटाना चाहते हैं,—इसीको मुक्त करना चाहते हैं। आतंकसे वह काम नहीं होगा। जो शक्तिके मदमें उन्मत्त है, असली काम तो उसका मद उतारने और उसमें कर्तव्य-भावनाका प्रकाश जगानेका है। हम स्वीकार करें कि मद उसका टक्कर खाकर, चोट पाकर, ही उतरेगा। यह चोट देनेके लिए हमें अवश्य तैयार रहना चाहिए; पर, यह नोंचानाँची उपयुक्त नहीं। इससे सत्ताका कुछ बिगड़ता तो नहीं, उल्टे उसे अपने औचित्यपर सन्तोष हो आता है।

पर जब (सुनन्दाके पाससे) लौटकर आया, तब देखा गया कि कालिन्दी अपने पक्षपर दृढ़ नहीं है। वह सहमत हो सकता है कि हाँ, आतंक ज़रूरी भी है। "हाँ", उसने कहा, "यह ठीक है कि हम लोग कुछ काम शुरू कर दें।" इसके साथ ही कहा, "आप लोगोंको भूख नहीं लगी है क्या? उनकी तबियत खराब है, इससे यहाँ तो खाना बना नहीं। बताओ, क्या किया जाय? कहीं होटल चलें?"

एकने कहा कि कुछ बाज़ारसे यहीं मँगा लेना चाहिए। दूसरेकी राय हुई कि होटल ही चलना चाहिए। इसी तरहकी बातोंमें लगे थे कि सुनन्दाने एक बड़ी थालीमें खाना परोसकर उनके बीच ला रखा। रखकर वह चुपचाप चली गई। फिर आकर पास ही चार गिलास पानीके रख दिये, और फिर उसी भाँति चुपचाप चली गई।

कालिन्दीको जैसे किसीने काट लिया।

तीनों मित्र चुप हो रहे। उन्हें अनुभव हो रहा था कि पति-पत्नीके बीच स्थितिमें कहीं कुछ तनाव पड़ा हुआ है। अन्तमें एकने कहा—कालिन्दी, तुम तो कहते थे खाना नहीं है।

कालिन्दीने झेंपकर कहा—मेरा मतलब था, काफ़ी नहीं है।

दूसरेने कहा—बहुत काफ़ी है। सब चल जायगा।

देखूँ, कुछ और हो तो—कहकर कालिन्दी उठ गया।

आकर सुनन्दासे बोला—यह तुमसे किसने कहा था कि खाना वहाँ ले आओ? मैंने क्या कहा था?

सुनन्दा कुछ न बोली।

"चलो, उठाकर लाओ थाली। हमें किसीको यहाँ नहीं खाना है। हम होटल जायँगे।"

सुनन्दा नहीं बोली। कालिन्दी भी कुछ देर गुम खड़ा रहा। तरह-तरहकी बातें उसके मनमें और कंठमें आती थीं। उसे अपना अपमान मालूम हो रहा था, और अपमान उसे असह्य था।

उसने कहा—सुनती नहीं हो कि कोई क्या कह रहा है? क्यों?

सुनन्दाने और मुँह फेर लिया।

"क्या मैं बकते रहनेके लिए हूँ?"

सुनन्दा भीतर ही भीतर घुट गई।

"मैं पूछता हूँ कि जब मैं कह गया था, तब खाना ले जानेकी क्या जरूरत थी?"

सुनन्दाने मुड़कर और अपनेको दाबकर धीमेसे कहा—खाओगे नहीं? एक तो बज गया।

कालिन्दी निरस्त्र होने लगा। यह उसे बुरा मालूम हुआ। उसने मानो धमकीके साथ पूछा—खाना और है?

सुनन्दाने धीमेसे कहा—अचार लेते जाओ।

"खाना और नहीं है? अच्छा, लाओ अचार।"

सुनन्दाने अचार ला दिया और लेकर कालिन्दी भी चला गया।

सुनन्दाने अपने लिए कुछ भी बचाकर नहीं रखा था। उसे यह सूझा ही न था कि उसे भी खाना है। अब कालिन्दीके लौटनेपर उसे जैसे मालूम हुआ कि उसने अपने लिए कुछ भी नहीं बचाकर रखा है। वह अपनेसे रुष्ट हुई। उसका मन कठोर हुआ। इसलिए नहीं कि क्यों उसने खाना नहीं बचाया। इसपर तो उसमें स्वाभिमानका भाव जागता था। मन कठोर यों हुआ कि वह इस तरहकी बात सोचती ही क्यों है? छिः, यह भी सोचनेकी बात है! और उसमें

कड़वाहट भी फैली। हठात् यह उसके मनको लगता ही है कि देखो, उन्होंने एक बार भी नहीं पूछा कि तुम क्या खाओगी ? क्या मैं यह सह सकती थी कि मैं तो खाऊँ और उनके मित्र भूखे रहें। पर पूछ लेते तो क्या था। इस बातपर उसका मन टूटता-सा है। मानो उसका जो तनिक-सा मान था, वह भी कुचल गया हो। पर वह रह-रहकर अपनेको स्वयं अपमानित कर लेती हुई कहती है कि छिः छिः, सुनन्दा, तुझे ऐसी ज़रा-सी बातका अब तक खयाल होता है! तुझे तो खुश होना चाहिए कि उनके लिए एक रोज भूखे रहनेका तुझे पुण्य मिला। मैं क्यों उन्हें नाराज करती हूँ ? अबसे नाराज न करूँगी। पर वह अपने तनकी भी सुध तो नहीं रखते ! यह ठीक नहीं है। मैं क्या करूँ ?

और वह अपने बरतन माँजनेमें लग गई। उसे सुन पड़ा कि वे लोग फिर जोर-शोरसे बहस करनेमें लग गये हैं। बीच-बीचमें हँसीके कहकहे भी उसे सुनाई दिये। 'ओह' सहसा उसे खयाल हुआ, 'बरतन तो पीछे भी मल सकती हूँ। लेकिन, उन्हें कुछ जरूरत हुई तो ?' यह सोच, झटपट हाथ धो, वह कमरेके दरवाजेके बाहर दीवारसे लगकर खड़ी हो गई।

एक मित्रने कहा—अचार और है ? अचार और मँगाओ यार !

कालिन्दीने अभ्यासवश जोरसे पुकारा—अचार लाना भई, अचार। मानो सुनन्दा कहीं बहुत दूर हो। पर वह तो बाहर लगी खड़ी थी ही। उसने चुपचाप अचार लाकर रख दिया।

जाने लगी तो कालिन्दीने तनिक स्निग्ध वाणीसे कहा—थोड़ा पानी भी लाना।

और सुनन्दाने पानी ला दिया। देकर लौटी और फिर बाहर द्वारसे लगकर ओटमें खड़ी हो गई।—जिससे कालिन्दी कुछ माँगे, तो जल्दीसे ला दे।

त्रिबेनी

त्रिबेनी आखिर चौकेसे बाहर आई।—यह कुलच्छनी लड़का जाने कहाँ धूलमें खेलता फिरता है। और आता है तो रोता हुआ। घड़ी-भर चैन नहीं लेने देता,—हाँ तो।

चौकेसे बाहर आकर कान पकड़कर उसने कहा—क्यों रे! तू कहाँ था! बोल, कहाँ था? बोलता नहीं?—तो जा, मर।

बच्चा न बोला, न गया, न मरा। रोता आया था, सो रोना भी बन्द हो गया और मुँह फुलाकर गुमसुम खड़ा हो गया।

त्रिबेनीने कान और खींचकर कहा—क्यों रे! जवाब क्यूँ नहीं देता कहाँ गया था?

लड़केका नाम रिपुदमन है। वह फूले काठके लड्डेकी नाईं अटल और अपराजित बना हुआ खड़ा रहा।

"अभी तो कपड़े पहनाये थे, अभी कैसे कीचड़ कर लाया? क्यों रे! गया कहाँ था?" कहकर त्रिबेनी घरमें खानेको हो तो बच्चेके लिए लेने चली गई।

रिपुदमन आँगनमें अकेला रह गया। पहले तो वह खड़ा रहा, खड़ा रहा। फिर उसके बाद चुपचाप बाहर निकला और पासके एक कुएँपर चढ़, उसमें पैर लटकाकर, बैठ गया।

कुछ गजक-रेवड़ी हाथमें लिये त्रिबेनी जो आई तो देखती है, आँगनमें चिड़ियाका पूत भी नहीं है। बोली—'पाजी कहीं का!'—और एकदम चलती हुई दरवाज़ेसे बाहर आ गई। पुकारकर बोली—ओ, कहाँ गया रे! ले, यह ले।

इतनेमें देखती क्या है कि वह सामने कुएँमें पैर लटकाकर जो बैठा है, वह है रिपुदमन! लपकी गई और बाँह पकड़कर झटकेसे उसे उठाकर घसीटती हुई ले चली। घिसटते हुए बालक बोला—मैं नहीं खाऊँगा। कुछ नहीं खाऊँगा। कभी नहीं खाऊँगा!

अब बालकने अपना बोझ ही छोड़ दिया, और वह धरतीपर गिरा जाने लगा। उसको सीधा थामे रखनेमें त्रिवेनीकी कलाई दुख चली। तब उसने बालककी बाँह छोड़कर कहा, " नहीं खायगा ! तू नहीं खायगा ? " और यह कहकर उसे थप्पड़ों, लातोंसे मारने लगी।

बालक रोया बिलकुल नहीं। उलटे उद्दंडतासे चिल्लाता रहा—मार ले आज। तू खूब मार ले। जी भरकर मार ले। मैं नहीं, नहीं, नहीं खाऊँगा।

" मत खा, मत खा, चंडाल ! " कहकर हाथकी गजक और रेवड़ीको ज़ोरसे बच्चेके सिरपर पटककर त्रिवेनी झींकती हुई घरमें चली गई।

अन्दर चूल्हेके पास गई। आँच मन्दी हो गई थी। उसने धुआँ देकर जलती हुई लकड़ीको ज़ोरसे चूल्हेके भीतर किया। पाससे उठाकर दूसरी लकड़ीको भी उसमें ठूँसा। फिर जोर-ज़ोरसे फूँक मारने लगी और बीच-बीचमें झल्लाती जाती थी। आँच आखिर बल आई। उसने चूल्हेकी बटलोईको ठीक किया। फिर वहीं चूल्हेके बराबर माथेको हथेलीमें लेकर बैठ रही।

...अब तक नहीं आये ! छुट्टी नहीं हुई ? ऊँह होगा कुछ।...सच, अब मुझसे नहीं होता काम। वह जानें, उनका काम जाने अब। फिर...यह साँसत आये साल सिरपर रक्खी है। भगवान् तूने औरतको क्यों जनमाया ? आये दिन यही धंधे, तिसपर क्लेश ! मुझसे नहीं होता, नहीं होता। सिर तो फटा जाता है, कैसे करूँ ?...

उठकर कमरेमें आकर खाटपर बैठ गई। उसका जी ठीक नहीं रहता। ब्याहके बादसे ही कुछ गड़बड़ हाल है। तबीयत अनमनाई, मिचलाई रहती है। सिरमें दर्द तो हर घड़ी बना रहता है। हरारत भी लग आया करती है। आराम चाहती है, पर आराम कहाँ मिलता है ? और मिलता है तो उससे भी उकताहट जल्दी आ जाती है। एक दिन कटता है, दूसरा दिन आ जाता है। उसकी समझमें नहीं आता ये दिनपर दिन क्यों आते हैं ? कहाँसे आते हैं ? सब-कुछ एक साथ ख़तम क्यों नहीं हो जाता ? जीना एक दिनके लिए हो और खूब खुशीसे फुलझड़ीकी तरह उस दिन जी लिया जाय, फिर अगले दिनके लिए कुछ रहे ही नहीं,—ऐसा हो तो क्या हर्ज है ? देखो, पड़ोसमें उनके घर कैसी हँसी रहती है। बच्चे कैसे फूलसे खिले रहते हैं। एक हम हैं कि...ऊँह...हैं तो हैं !—एँ वक्त क्या हो गया ! वह आते न हों !

सोचने लगी कि वह उठे, जाकर गरम पानी ठीक कर दे, कुछ नाश्तेका बंदोबस्त कर दे, क्योंकि वह आते ही होंगे।

त्रिवेनीके पति मनसाराम स्कूलमें मुदर्रिस हैं। चौबीस रुपए माहवार पाते हैं। ब्याहको पाँचसे कुछ ही ऊपर साल हुए हैं। बड़ा बच्चा रिपुदमन है ही। एक लड़की हुई थी जो एक बरसके ऊपरकी होकर चेचकमें जाती रही। दूसरा बच्चा मरा पैदा हुआ, आख़िरी गर्भ गिर गया। इस तरह तीन प्राणी हैं। सो, चौबीसमें एक तरहसे गृहस्थी मज़ेमें निभ जाती है। दो-चार रुपये बचाकर वे दोनों जने आयन्दाके लिए सैंतकर जोड़ते भी जाते हैं। इस भाँति गृहस्थीकी गाड़ी चल ही रही है।

चल तो रही है, पर चूँ-चूँ भी करती जाती है। जिया जा रहा है, पर जीनेका कुछ रस नहीं मिल रहा है। दोनों जने मिलते तो हैं, बोलते भी हैं; आये साल दोनों अपने बीच नई सृष्टि भी करते हैं। पर ढर्रा है, चल रहा है। जो हो रहा है, हुए जा रहा है। कुछ लुत्फ़ नहीं, सार नहीं। मानो सब कुछ बीतनेके लिए बीत रहा है। मौत आवेगी तब कहीं छुट्टी होगी।

त्रिवेनी सोच रही थी कि अब उठूँ, जाऊँ, उनके लिए पानी ठीक कर दूँ। इतनेमें पति आ गये।

आते वक़्त रास्तेमें उन्होंने देखा था कि रिपुदमन धरतीसे चिपटकर पड़ा है। रूठा मालूम होता है। शायद पिटा हो। उन्होंने पूछा था, "क्यों रे! क्यों रो रहा है?" जब पूछने और बाँह पकड़कर झिटकनेसे भी लड़का नहीं बोला, तब मास्टरने कहा "माने मारा होगा। क्यों?" बालक फिर भी कुछ न बोला। इसपर भारी मनसे मास्टर बच्चेको वहीं छोड़ चुप-चाप चले आये।

त्रिवेनी उठ रही थी कि पतिको आता देखकर खाटपर ही बैठी रही। पति कमरेमें आये, साफ़ा उतारकर खूँटीपर लटका दिया, कोट भी उतारकर टाँग दिया और बिना बोले चुपचाप बाहर आँगनमें आ गये। वहाँ घड़ेसे पानी लेकर हाथ-मुँह धोने लगे।

त्रिवेनी बैठी देखती रही। दोनोंमेंसे कोई कुछ नहीं बोला। पतिने आराममें वक़्त लगाकर हाथ-मुँह धोया, अँगोछेसे पोंछा, फिर कमरेमें आये। वहाँ आकर कोट पहना और साफ़ा सिरपर रखते हुए बोले—मैं खाना नहीं खाऊँगा आज।

पल-भर मौन रहकर त्रिवेनीने कहा—खाना नहीं खाओगे। कल भी नहीं खाओगे?

"नहीं दोगी तो नहीं खाऊँगा। देखो, मेरा इन्तज़ार मत करना। लौटनेमें मुझे आज देर हो सकती है।"

"कुछ काम है?"

"काम भी है।"

इसके बाद त्रिवेनीने कुछ नहीं पूछा। मास्टरजीने भी कुछ अपेक्षा नहीं की और कदम बढ़ाकर चले गये।

त्रिवेनी कुछ देर तो वहाँकी वहीं बैठी रही। थोड़ी देर बाद उठी और जाकर चूल्हेमें पानी झोंक दिया, बटलोईको उतारकर धरतीमें पटक दिया। फिर आकर खाटपर मुँह ढाँपकर पड़ गई।

आधा घंटा हुआ होगा कि त्रिवेनी उठी। एक साथ उठकर झाड़ूसे घरका आँगन बुहारने लगी। वहाँ कूड़ा ज़्यादा नहीं था, पर त्रिवेनी आँगन साफ़ करना चाहती थी। बुहारी हाथमें थी, तभी उसने सुना कि कोई दरवाज़ेके बाहरसे 'उन्हें' पूछ रहा है। पूछ रहा है—मास्टर मन्सारामजीका घर क्या यही है? —मास्टरजी! मास्टरजी!!

पहले तो वह उस स्वरपर चौंकनेको हुई, फिर 'होगा कोई' मनमें कहती हुई अपने काममें लगी रही। इतनेमें ही आगत व्यक्ति अन्दर आ गया और आँगनके किनारे खड़े होकर पुकारने लगा—मास्टर मन्सारामजी, मास्टरजी हैं!

त्रिवेनीने आँख ऊपर उठाकर देखा। देखकर वह सन्न रह गई। बुहारी हाथसे खिसक गई। वह व्यक्ति भी अकचका गया। हठात् बोला—मास्टरजी हैं! मैं मिलने आया था।

क्षणेक तो त्रिवेनी विमूढ़ हो गई। फिर उसके मुँहसे निकला 'आओ।' निकला तो, पर वह खड़ी वहींकी वहीं रह गई।

व्यक्तिने बिल्कुल ही पास आकर मानो उसकी आँखोंमें कहा—मैं मिलने आया हूँ। वह हैं!

अब त्रिवेनी स्वस्थ हो आई। मुस्कराकर बोली—वह तो नहीं हैं...

कहकर अन्दर गई और उसने कोनेसे मोढ़ा खींचकर अपनी धोतीसे उसे झाड़कर खाटके पास बिछा दिया। किनारे एक काठकी कुर्सी पड़ी थी, उसे भी बिछा

दिया। नीचे पड़ी दरी खींचकर, तह करके कुर्सीपर डाल दी। व्यक्ति आँगनमें खड़ा था। त्रिवेनीने कहा—आइए।

व्यक्तिने हँसकर कहा—लेकिन मैं तो एक हूँ।—और वह कमरेमें गया।

त्रिवेनीने उधर ध्यान न देकर कहा—बैठिए।

व्यक्तिके बैठनेसे पूर्व वह ही कमरेसे बाहर चली गई। चौकेमें पहुँचकर उसे अचरज हुआ कि उसने यह चूल्हेमें पानी कब डाल दिया, क्यों डाल दिया? क्या अब अँगीठीमें आग सुलगावे? उसने अँगीठी ली और आँगनसे होकर घरके बाहर चली।

व्यक्तिने आँगनमेंसे जाते हुए उसे देखकर कहा—क्या कर रही हो? क्या इरादा है?

लेकिन त्रिवेनीने उसकी बात सुनी भी नहीं और बाहर जाकर एक पड़ोसिनसे कहा—बीबीजी, अपने हैमसे चार पैसेका दही मँगा दो। और रबड़ी,—चार पैसेकी रबड़ी। और दो बीड़े पान।...और तुम्हारे घरमें आँच हो गई है? दो कोयले आँचके और दे दो, बीबीजी। मुझे जल्दी है।

कहकर पड़ोसिनको पैसे दे दिये और अँगीठीमें कोयले लेकर चली आई।

जा रही थी, तब व्यक्तिने फिर कहा, "यह कर क्या रही हो?" लेकिन त्रिवेनीने कुछ नहीं सुना। चौकेमें जा अँगीठीमें कोयले डालकर वह जल्दी जल्दी फूँक मारकर उन्हें दहकानेमें लगी रही। आँच हो गई, तब वही आलूकी बट-लोई उसपर रख दी।

अब कमरेमें आई। अतिथिने कहा—यह क्या कर रही हो? देखना कुछ...।

वह बोली—मास्टरजी यहाँ नहीं हैं...

"नहीं हैं? कब आयेंगे?"

"मालूम नहीं। देर भी हो सकती है।"

"कितनी देर?"

"मालूम नहीं।"

"अच्छा, तो मैं चलूँ। मिलना था। मुझे इसी गाड़ीसे जाना भी है।"

"आप मास्टरजीसे ही मिलने आये थे? वह तो हैं नहीं।"

व्यक्ति कुछ देर त्रिवेनीको देखता रहा। वह भी देखती रही। सहसा वह बोला—मेरा ताँगा खड़ा है। ताँगेवाला इन्तज़ार करता होगा।

त्रिवेनीने कुछ नहीं कहा, चुपचाप खड़ी रही। जब देखा कि उसे बोलना ही होगा, नहीं तो कहीं यह आदमी प्रत्याशासे उसे देखता ही न जाय, तब बोली—मैं क्या कह सकती हूँ। आप आये हैं। जाना चाहें तो रोकनेवाले मास्टरजी होते, वह हैं नहीं। क्या उनके नाते मैं रुकनेको कह सकती हूँ?

व्यक्तिने कहा—त्रिवेनी, हम सच क्यों न बोलें? सच यह है कि मुझे मालूम नहीं। और अब तो कल मुझे कानपुर ज़रूर पहुँचना है। यह आख़िरी गाड़ी है। मुझे जाने दो, त्रिवेनी।

त्रिवेनीने कहा—जाओ न। मैं क्या कुछ कहती हूँ?

"लेकिन तुम नाराज़ तो नहीं हो?"

"नाराज़! नाराज़ होकर क्या कर लूँगी?"

"देखो त्रिवेनी, इसीसे मुझे और भी चलना चाहिए। लो, मैं चला।"

व्यक्ति कुर्सीसे उठा। त्रिवेनी दरवाज़ेकी राह छोड़ अलग हो गई। जैसे किसीकी राहके बीचमें होकर खड़ी होनेवाली वह कौन है?—वह कोई नहीं है। पतिकी पत्नी है और पति इस समय नहीं है।

व्यक्तिने कहा—अच्छा तो त्रिवेनी, मुझे माफ़ करना।

त्रिवेनी कुछ नहीं बोली। व्यक्ति चलकर आँगनमें आ गया। कमरेमेंसे ही अब त्रिवेनीने कहा—लेकिन सुनो। मैं पूछती हूँ, तुम आये क्यों?

व्यक्ति मुड़कर त्रिवेनीकी ओर देखता हुआ खड़ा रह गया। दिन हुए, ज़िन्दगीमें एक बात आई थी। वह आई नहीं कि बीत गई। उस नन्हीं-सी बातकी समाधिके ऊपरसे बरसके बरस धड़धड़ाते हुए निकल गये हैं। वही बीती बात उन सब वर्षोंको व्यर्थ बनाकर आज कोंपल फोड़कर हरी हरी उठ आना चाहती है क्या। न, न, सो न होने देना होगा। अतिथि कुछ न बोला।

त्रिवेनीने कहा—नहीं आते तो कुछ हर्ज था?

व्यक्ति यह सुनकर एकाएक लौटकर कमरेमें आ गया और कुर्सीपर बैठ गया। बैठकर थिरतासे बोला—सुनो त्रिवेनी, इसके बाद गाड़ी रातके एक बजे जाती है। लेकिन ख़ैर। एक काम करो। ताँगेमेंसे सामान मँगवा लो।

"सामान मँगवा लूँ?"

"हाँ, मँगवा सकती हो। यह है ताँगेवालेके पैसे। पर त्रिवेनी, बड़ी दया हो अगर न मँगवाओ। मेरे यहाँ रहनेसे किसको सुख मिलेगा? तुमको नहीं, मुझको नहीं। फिर किसको?...त्रिवेनी, मैं फिर कहता हूँ, मुझको जाने दो।"

त्रिवेनी कुछ देर चुप रही। फिर धीमेसे धीमे बोली—मैं तो कुछ भी नहीं कहती। मैंने कभी तुम्हें लिखा? तुम्हें बुलाया?—फिर तुम क्यों आये?

व्यक्ति लज्जासे कुछ लाल हो आया, जैसे अभियुक्त हो, बोला—मैं यह नहीं जानता था, त्रिवेनी। सच, नहीं जानता था। नहीं तो—।

उस समय शीघ्रतासे त्रिवेनीने कहा—जाना बिलकुल जरूरी है?—बिलकुल?

"जरूरी?—लेकिन मैं तुमको एक क्षण भी दुःख नहीं दे सकता, त्रिवेनी। इसलिए बिलकुल जरूरी है।"

इतनेमें पड़ोसिनका वह लड़का हेम 'चाची चाची' कहता हुआ अन्दर आया और चार चार पैसेका दही और रबड़ी और दो बीड़े दिखाकर बोला—चाची, देख, मैं दौड़कर लाया हूँ। दहीवाला कम देता था। मैं भला कम लेनेवाला हूँ? मेरा नाम है, हेम। मैंने कहा, और रख। उसने और रक्खा। मैंने कहा, और रख। वह इधर-उधर करने लगा। चाची, उसने समझा, मैं लड़का हूँ। मेरा नाम है हेम। मैंने कहा, रखता है या नहीं। चाची, रखवाके छोड़ा रखवाके।—चाची, अब तुम्हीं बताओ, इस कामका मेरा एक पैसा हुआ कि नहीं? क्यों चाची?

चाची त्रिवेनीने कहा—एक नहीं, दो। ला, यह चीज़ यहाँ मोढ़ेपर रख दे। और देख, हेम भैया, चौकेमेंसे दौड़के एक तश्तरी तो ले आ।

तश्तरी आ गई। सामान उसपर रख दिया गया। दो पैसे हेमने पाये और वह उछलता हुआ भाग गया।

अब त्रिवेनीने अतिथिसे कहा—तो मैं खाना न बनाऊँ?

अतिथिने आश्चर्यसे कहा—खाना? खाना बनानेकी सोच रही थीं?

"कहो तो न बनाऊँ।"

अतिथिने जोरसे कहा—नहीं, बिलकुल नहीं। मैं मानता हूँ, मैंने गलती की, मैं आया। मैं नहीं खाऊँगा। मैं नहीं खा सकता। मैं इसी गाड़ीसे चला जाऊँगा।

त्रिवेनी उसे देखती रही। बोली, "तो इन चीज़ोंको वापस कर दूँ? मेरे

दस पैसे खर्च हुए हैं। दस पैसे,—जानते हो ? पर तुम बड़े आदमी हो—क्या जानोगे।" कहकर वह कठिन हँसी हँसी। बोली, "और इन्हें अब वापस कौन करेगा ?"

व्यक्ति कुछ देर तो मानो सहमा-सा रह गया। फिर एकाएक वह भी खिलकर हँसा। जोरसे बोला, "छोड़ो,—छोड़ो। अच्छा, यह बताओ, तुम्हारे क्या बाल-बच्चे हैं ?" कहकर वह और भी हँसा।

त्रिवेनीकी मुस्कराहट फैल गई, पर वह मुस्कराहट कठिनसे और कठिन हो आई। बोली—बाल-बच्चा ! हैं क्यों नहीं। हुए चार, है एक। बाहर तुम्हें कोई नहीं मिला ?

व्यक्तिकी हँसी भी इसपर सहसा रुक गई। मूढ़ बना वह बोला—क्या—आ...?

त्रिवेनीने उसी भावसे कहा—क्या—आ नहीं, बाल-बच्चा। सच तुम्हें बाहर कोई नहीं मिला ?

व्यक्तिने हँसकर कहा—तुम जाने कैसी बात करती हो। पर, सचमुच एक लड़केसे मैंने मकान पूछा था। वह धरतीपर पड़ा था। मेरी बात सुनकर चुपचाप उठा और मुझे यह मकान बता गया। फिर जाकर वहीं लेट गया। लेकिन तुम कह क्या रही हो ?

मैं कह रही हूँ, "बाल-बच्चा !" और उसकी हँसी और भी अनबूझ हो गई।

त्रिवेनीकी इस हँसीको देखकर व्यक्ति काँपकर पीला पड़ गया। फिर एकाएक व्यस्त भावसे बोला—देखो-देखो, मैं कहता न था, मुझे जाना चाहिए। देखो, अब तुम रो रही हो। मैंने, सच, बड़ी भूल की, मैं आया। मुझे माफ़ करो, त्रिवेनी। मैं चला। त्रिवेनी, इसी मिनट चला जा रहा हूँ। फिर तुम क्यों रोओ ?

इस आदमीके मनकी व्यथाको क्या वह समझती नहीं ?—तब वह उसे अपने आँसुओंसे कैसे बहा दे ? उसे अपना दुःख अपना पाप मालूम हुआ। वह गुमसुम खड़ी रह गई। आँखोंमें जो पानी आ रहा था, वहीं रुक गया। और सचमुच वह प्रसन्न बनी बोली—कभी राज़ी-खुशीका ख़त साल-छै महीनेमें नहीं डाल दे सकते ? इतना काम रहता है !

व्यक्तिने रुककर कहा—काम ! पर अब तो ख़त नहीं ही डाल सकता। बताओ, क्यों डालूँ ? और राज़ी-खुशी ! ओह, राज़ी और खुशी तो मैं सदाका हूँ।

त्रिवेनीने असमंजसमें कहा—अच्छा अच्छा। जैसी तुम्हारी मर्जी। मेरी कुछ इच्छा नहीं है। खुश रहो, यह चाहिए।...अच्छा और तो कुछ न खा सके, लो, यह पान तो ले लो।

हाथोंसे उठाकर त्रिवेनीने तश्तरी सामने कर दी।

अतिथिने रुककर कहा—पान, मैं—

त्रिवेनी अब भी हठात् मुस्कराई। बोली—पान भी नहीं खाते—तो, जाने दो !

व्यक्तिने उस मुर्झाई मुस्कानको देखा और जल्दी मचाकर कहा, "अच्छा लाओ, जल्दी लाओ।" और रुककर फिर उठाई हुई त्रिवेनीके हाथोंमें थमी तश्तरीमेंसे मानो झपटकर बीड़ा उसने उठा लिया।

त्रिवेनीने कहा—इधर स्टेशनसे तो कभी कभी गुजरते होगे। यदि कामका हरज न हो, छठे-छमाहे दर्शन दे दोगे तो ऋण रहेगा।

व्यक्तिने कहा—ऋण ! तुम जानती नहीं, त्रिवेनी। लेकिन तुम्हारे प्रतापसे अब यह कसूर मुझसे न होगा।

यह कहकर वह हठ-पूर्वक अपनेको सँभालकर चल ही दिया। पान हाथमें रहा।

त्रिवेनी देखती रही, देखती रही। फिर मानो मूर्च्छासे जागकर एकदम कर्तव्य-तत्पर हो पड़ी। सोचने लगी, रातको जब पति आवेंगे, मैं उनसे क्षमा माँगकर अपने आँसुओंसे उनका सब क्रोध बहा दूँगी। मैं बड़ी स्वार्थिन हूँ, बड़ी स्वार्थिन हूँ। इसी तरहकी बातें सोचते सोचते वह बाहर गई और बच्चेको गोदमें उठाकर चूमती हुई घर ले आई। उससे रो-रोकर माफी माँगने लगी और मनाने लगी। लेकिन बच्चेने जब तक दोनेकी पूरी रबड़ी नहीं खा ली तब तक नहीं प्रकट होने दिया कि उसका क्रोध तनिक भी मंद हुआ है। उस समय उस नारीमें यह भाव हुआ कि यह बच्चा इतना बड़ा क्यों हो गया कि मैं आज इसे अपना स्तन-पान नहीं करा सकती। उसकी छातीमें मानो दूध उमड़ने लगा।

~~~~~~~~
~~~~~~~~

जाह्नवी

आज तीसरा रोज़ है।—तीसरा नहीं, चौथा रोज़ है। वह इतवारकी छुट्टीका दिन था। सवेरे उठा और कमरेसे बाहरकी ओर झाँका तो देखता हूँ, मुहल्लेके एक मकानकी छतपर काँओ-काँओ करते हुए कौओंसे घिरी हुई एक लड़की खड़ी है। खड़ी खड़ी बुला रही है, "कौओ आओ, कौओ आओ।" कौए बहुत काफी आचुके हैं; पर और भी आते जाते हैं। वे छतकी मुँडेरपर बैठे अधीरतासे पंख हिला-हिलाकर बेहद शोर मचा रहे हैं। फिर भी उन कौओंकी संख्यासे लड़कीका मन जैसे भरा नहीं है। बुला ही रही है, "कौओ आओ, कौओ आओ।"

देखते देखते छतकी मुँडेर कौओंसे बिल्कुल काली पड़ गई। उनमेंसे कुछ अब उड़ उड़ कर लड़कीकी धोतीसे जा टकराने लगे। कौओंके खूब आ घिरने-पर लड़की मानो उन आमंत्रित अतिथियोंके प्रति गाने लगी—

"कागा चुन चुन खाइयो...।"

गानेके साथ उसने अपने हाथकी रोटियोंमेंसे तोड़-तोड़कर नन्हे नन्हें टुकड़े भी चारों ओर फेंकने शुरू किये। गाती जाती थी। "कागा चुन चुन खाइयो...।" वह मग्न मालूम होती थी और अनायास उसकी देह थिरक कर नाच-सी आती थी। कौए चुन-चुन खा रहे थे और वह गा रही थी—

"कागा चुन चुन खाइयो...।"

आगे वह क्या गाती है, कौओंकी काँव काँव और उनके पंखोंकी फड़फड़ा-हटके मारे साफ़ सुनाई न दिया। कौए लपक-लपक कर मानो टूटनेसे पहले उसके हाथोंसे टुकड़ा छीन ले रहे थे। वे लड़कीके चारों ओर ऐसे छा रहे थे मानो वे प्रेमसे उसको ही खानेको उद्यत हों। और लड़की कभी इधर कभी उधर झुककर घूमती हुई ऐसे लीन भावसे गा रही थी कि जाने क्या मिल रहा हो।

रोटी समाप्त होने लगी। कौए भी यह समझ गए। जब अंतिम टुकड़ा हाथमें रह गया तो वह गाती हुई उस टुकड़ेको हाथमें फहराती हुई ज़ोरसे दो—

तीन चक्कर लगा उठी। फिर उसने वह टुकड़ा ऊपर आसमानकी ओर फैंका—"कौओ खाओ, कौओ खाओ।" और बहुतसे कौए एक ही साथ उड़कर उसे लपकने झपटे। उस समय उन्हें देखती हुई लड़की मानो आनन्दमें चीखती हुई-सी आवाज़में गा उठी—

"दो नैना मत खाइयो, मत खाइयो...
पीउ मिलनकी आस"

रोटियाँ खत्म हो गईं। कौए उड़ चले। लड़की एक एक कर उनको उड़कर जाता हुआ देखने लगी। पल-भरमें छत कोरी हो गई। अब वह अस्मानके नीचे अकेली अपनी छतपर खड़ी थी। आसपास बहुतसे मकानोंकी बहुतसी छतें थीं। उनपर कोई होगा, कोई न होगा। पर लड़की दूर अपने कौओंको उड़ते जाते हुए देखती रह गई। गाना समाप्त हो गया था। धूप अभी फूटी ही थी। आसमान गहरा नीला था। लड़कीके ओंठ खुले थे, दृष्टि थिर थी। जाने भूली-सी वह क्या देखती रह गई थी।

थोड़ी देर बाद उसने मानो जगकर अपने आस-पासके जगतको भी देखा। इसीकी राहमें क्या मेरी ओर भी देखा? देखा भी हो; पर शायद मैं उसे नहीं दीखा था। उसके देखनेमें सचमुच कुछ दीखता ही था, यह मैं कह नहीं सकता। पर, कुछ ही पलके अनंतर वह मानो वर्तमानके प्रति, वास्तविकताके प्रति, चेतन हो आई। तब फिर बिना देर लगाए चट चट उतरती हुई वह नीचे अपने घरमें चली गई।

मैं अपनी खिड़कीमें खड़ा खड़ा चाहने लगा कि मैं भी देखूँ, कौए कहाँ-कहाँ उड़ रहे हैं, और वे कितनी दूर चले गये हैं। क्या वे कहीं दीखते भी हैं? पर मुश्किलसे मुझे दो-एक ही कौए दीखे। वे निरर्थक भावसे यहाँ बैठे थे, या वहाँ उड़ रहे थे। वे मुझे मूर्ख और घिनौने मालूम हुए। उनकी काली देह और काली चोंच मनको बुरी लगी। मैंने सोचा कि 'नहीं, अपनी देह मैं कौओंसे नहीं चुनवाऊँगा। छिः, चुन चुन कर इन्हींके खानेके लिए क्या मेरी देह है? मेरी देह और कौए!—छी।'

जान पड़ता है खड़े खड़े मुझे काफ़ी समय खिड़कीपर ही हो गया; क्योंकि इस बार देखा कि ढेरके ढेर कपड़े कंधेपर लादे वही लड़की फिर उसी छतपर आ गई है। इस बार वह गाती नहीं है, वहाँ पड़ी एक खाटपर उन कपड़ोंको

पटक देती है और फिर उन कपड़ोंमेंसे एक-एकको चुनकर, फटक कर, वहीं छतपर सुखा देती है। छोटे-बड़े उन कपड़ोंकी गिनती काफी रही होगी। वे उठाए जाते रहे, फटके जाते रहे, फैलाए जाते रहे; पर उनका अंत शीघ्र आता न दीखा। आखिर सब खत्म हो गये तो लड़कीने सिरपर आये हुए धोतीके पल्लेको पीछे किया। उसने एक अंगड़ाई ली, फिर सिरको ज़ोरसे हिलाकर अनबँधे अपने बालोंको छिटका लिया और धीमे धीमे वहीं डोलकर उन बालोंपर हाथ फेरने लगी। कभी बालोंकी लटको सामने लाकर देखती फिर उसीको लापरवाहीसे पीछे फेंक देती। उसके बाल गहरे काले थे और लम्बे थे। मालूम नहीं उसे अपने इस वैभवपर सुख था या दुख था। कुछ देर वह उँगलियाँ फेर फेर कर अपने बालोंको अलग अलग छिटकाती रही। फिर चलते चलते एकाएक उन सब बालोंको इकट्ठा समेट कर झटपट जूड़ा-सा बाँध, पल्ला सिरपर खींच, वह नीचे उतर गई।

इसके बाद मैं खिड़कीपर नहीं ठहरा। घरमें छोटी साली आई हुई है। इसी शहरके दूसरे भागमें रहती है और ब्याह न करके कालिजमें पढ़ती है। मैंने कहा—सुनो, यहाँ आओ।

उसने हँसकर पूछा—यहाँ कहाँ?

खिड़कीके पास आकर मैंने पूछा—क्यों जी जाह्नवीका मकान जानती हो?

"जाह्नवी! क्यों, वह कहाँ है?"

"मैं क्या जानता हूँ कहाँ है। पर देखो, वह घर तो उसका नहीं है?"

उसने कहा—मैंने घर नहीं देखा। इधर उसने कालिज भी छोड़ दिया है।

"चलो अच्छा है" मैंने कहा और उसे जैसे-तैसे टाला। क्योंकि वह पूछने ताछने लगी थी कि क्या काम है, जाह्नवीको मैं क्या और कैसे और क्यों जानता हूँ। सच यह था कि मैं रत्तीभर उसे नहीं जानता था। एक बार अपने ही घरमें इसी सालीकी कृपा और आग्रहपर एक निगाह एकको देखा था। बताया गया था कि वह जाह्नवी है, और मैंने अनायास स्वीकार कर लिया था कि अच्छा, वह जाह्नवी होगी। उसके बादकी सचाई यह है कि मुझे कुछ नहीं मालूम कि उस जाह्नवीका क्या बन गया और क्या नहीं बना। पर किसी सचाईको बहनोईके मुँहसे सुनकर स्वीकार कर ले तो साली क्या। तिसपर सचाई ऐसी कि नीरस। पर ज्यों-त्यों मैंने उसे टाला।

बात-बातमें मैंने कहना भी चाहा कि ऐसी ही तुम जाह्नवीको जानती हो, ऐसी ही तुम साथ पढ़ती थी कि ज़रा बातपर कह दो 'मालूम नहीं।' लेकिन मैंने कुछ कहा नहीं।

इसके बाद सोमवार हो गया, मंगलवार हो गया और आज बुध भी होकर चुका जा रहा है। चौथा रोज है। हररोज़ सबेरे खिड़कीपर दीखता है कि कौए काँव-काँव, छीन-झपट कर रहे हैं और वह लड़की उन्हें रोटीके टुकड़ोंके मिस कह रही है, "कागा चुन-चुन खाइयो...।"

मुझको नहीं मालूम कि कौए जो कुछ उसका खाएँगे उसे कुछ भी उसका सोच है। कौओंको बुला रही है—"कौओ आओ, कौओ आओ," साग्रह कह रही है—"कौओ खाओ, कौओ खाओ"। वह खुश है कि कौए आगये हैं और वे खा रहे हैं। 'पर एक बात है कि ओ कौओ, जो तन चुन-चुनकर खा लिया जायगा, उसको खा लेनेमें खुशीसे मेरी अनुमति है। वह खा-खू कर तुम सब निबटा देना। लेकिन ए मेरे भाई कौओ, इन दो नैनोंको छोड़ देना। इन्हें कहीं मत खा लेना। क्या तुम नहीं जानते कि उन नैनोंमें एक आस बसी है जो परायेके बस है। वह नैना पीउकी बाटमें हैं। ऐ कौओ, वे मेरे नहीं हैं, मेरे तनके नहीं हैं। वे पीउकी आसको बसाए रखनेके लिए हैं। सो, उन्हें छोड़ देना।'

आज सबेरे भी मैंने यह सब कुछ देखा। कौओंको रोटी खिलाकर वह उसी तरह नीचे चली गई। फिर छोटे-बड़े बहुतसे कपड़े धोकर लाई। उसी भाँति उन्हें झटककर सुखा दिया। वैसे ही बाल छितराकर थोड़ी देर डोली। फिर सहसा ही उन्हें जूड़ेमें सँभालकर नीचे भाग गई।

जाह्नवीको घरमें एक बार देखा था। पत्नीने उसे खास तौरपर देख लेनेको कहा था। और उसके चले जानेपर पूछा था—क्यों, कैसी है?

मैंने कहा था—बहुत भली मालूम होती है। सुन्दर भी है। पर क्यों?

"अपने बिरजूके लिए कैसी रहेगी?"

बिरजू दूरके रिश्तेमें मेरा भतीजा होता है। इस साल एम० ए० में पहुँचा है।

मैंने कहा—अरे, ब्रजनन्दन! वह उसके सामने बच्चा है।

पत्नीने अचरजसे कहा—बच्चा है! बाईस बरसका तो हुआ।

"बाईस छोड़ ब्यालीसका भी हो जाय। देखा नहीं कैसे ठाठसे रहता है। यह लड़की देखो, कैसी बस सफ़ेद साड़ी पहनती है। बिरजू इसके लायक कहाँ है। यों भी कह सकते हो कि यह बिचारी लड़की बिरजूके ठाठके लायक नहीं है।

बात मेरी कुछ सही, कुछ व्यंग थी। पत्नीने उसे कानपर भी न लिया। कुछ दिनों बाद मुझे मालूम हुआ कि पत्नीजीकी कोशिशोंसे जाह्नवीके माँ-बापसे (—माँके द्वारा बापसे) काफ़ी आगे तक बढ़कर बातें कर ली गई हैं। शादीके मौकेपर क्या देना होगा, क्या लेना होगा, एक एक कर सभी बातें पेशगी तय होती जा रही हैं।

इतनेमें सब किये करायेपर पानी फिर गया। जब बात कुल किनारेपर आ गई थी, तभी हुआ क्या, कि हमारे व्रजनन्दनके पास एक पत्र आ पहुँचा। उस पत्रके कारण एकदम सब चौपट हो गया। इस रङ्गमें भङ्ग हो जानेपर हमारी पत्नीजीका मन पहले तो गिरकर चूर-चूर-सा होता जान पड़ा; पर, फिर, वह उसीपर बड़ी खुश मालूम होने लगीं!

मैं तो मानों इन मामलोंमें अनावश्यक प्राणी हूँ ही। कानों-कान मुझे खबर तक न हुई। जब हुई तो इस तरह—

पत्नी एक दिन सामने आ धमकीं। बोलीं—यह तुमने जाह्नवीके बारेमें पहलेसे क्यों नहीं बतलाया?

मैंने कहा—जाह्नवीके बारेमें मैंने पहलेसे क्या नहीं बतलाया भाई?

"यही कि वह ऐसी है?"

मैंने पूछा—ऐसी कैसी?

उन्होंने कहा—अब बनो मत। जैसे तुम्हें कुछ नहीं मालूम।

मैंने कहा—अरे, यह तो कोई हाईकोर्टका जज भी नहीं कह सकता कि मुझे कुछ भी नहीं मालूम। लेकिन, आखिर जाह्नवीके बारेमें मुझे क्या क्या मालूम है, यह तो मालूम हो।

श्रीमतीजीने अकृत्रिम आश्चर्यसे कहा—ब्रिरजूके पास खत आया है, सो तुमने कुछ नहीं सुना? आजकलकी लड़कियाँ,—बस कुछ न पूछो। यह तो चलो भला हुआ कि मामला खुल गया। नहीं तो—

क्या मामला, कहाँ, कैसे खुला और भीतरसे क्या कुछ रहस्य बाहर हो पड़ा सो सब बिना जाने मैं क्या निवेदित करता? मैंने कहा—कुछ बात साफ़ भी कहो।

उन्होंने कहा—वह लड़की आशनाईमें फँसी थी।—पढ़ी-लिखीं सब एक जातकी होती हैं।

मैंने कहा, " सबकी जात-बिरादरी एक हो जाय तो बखेड़ा टले। लेकिन असल बात भी तो बताओ। "

" असल बात जाननी है तो जाकर पूछो उसकी महतारीसे। भली समधिन बनने चली थी ! वह तो मुझे पहलेहीसे दालमें काला मालूम होता था। पर देखो न, कैसी सीधी भोली बातें करती थी। वह तो, देर क्या थी, सब हो ही चुका था। बस लगन-महूर्तकी बात थी। राम राम, भीतर पेटमें कैसी कालिख रक्खे है, मुझे पता न था। चलो, आखिर परमात्माने इज्ज़त बचा ली ! वह लड़की घरमें आ जाती तो मेरा मुँह अब दिखाने लायक रहता ? "

मेरी पत्नीका मुख क्यों किस भाँति दिखाने लायक न रहता, उसमें क्या विकृति आ रहती, सो उनकी बातोंसे समझ न आया। उनकी बातोंमें रस कई भाँतिका मिला, तथ्य न मिला। कुछ देरके बाद उन बातोंसे मैंने तथ्य पानेका यत्न ही छोड़ दिया और चुपचाप पाप-पुण्य, धर्म-अधर्मका विवेचन सुनता रहा। पता लगानेपर मालूम हुआ कि ब्रजमोहनके पास खुद लड़की यानी जाह्नवीका पत्र आया था। पत्र मैंने स्वयं देखा। उस पत्रको देखकर मेरे मनमें कल्पना हुई कि अगर वह मेरी लड़की होती तो ?—मुझे यह अपना सौभाग्य मालूम नहीं हुआ कि जाह्नवी मेरी लड़की नहीं है। उस पत्रकी बात कई बार मनमें उठी है और घुमड़ती रह गई है। ऐसे समय चित्तका समाधान उड़ गया है और मैं शून्य-भावसे, हमें जो शून्य चारों ओरसे ढके हुए है उसकी ओर, देखता रह गया हूँ।

पत्र बड़ा नहीं था। सीधे सादे ढंगसे उसमें यह लिखा था कि आप जब विवाहके लिए यहाँ पहुँचेंगे तो मुझे प्रस्तुत भी पायेंगे। लेकिन मेरे चित्तकी हालत इस समय ठीक नहीं है और विवाह जैसे धार्मिक अनुष्ठानकी पात्रता मुझमें नहीं है। एक अनुगता आपको विवाह द्वारा मिल जायगी। लेकिन विवाहद्वारा सेविका नहीं मिलनी चाहिए,—धर्मपत्नी मिलनी चाहिए।—वह जीवन-संगिनी भी हो। वह मैं हूँ या हो सकती हूँ, इसमें मुझे बहुत संदेह है। फिर भी अगर आप चाहें, आपके माता पिता चाहें, तो प्रस्तुत मैं अवश्य हूँ। विवाहमें आप मुझे लेंगे और स्वीकार करेंगे तो मैं अपनेको दे ही दूँगी और आपके चरणोंकी धूलि माथेसे लगाऊँगी।

आपकी कृपा मानूँगी। कृतज्ञ होऊँगी। पर निवेदन है कि यदि आप मुझपरसे अपनी माँग उठा लेंगे, मुझे छोड़ देंगे, तो भी मैं कृतज्ञ होऊँगी। निर्णय आपके हाथ है। जो चाहें, करें।

मुझे व्रजनन्दनपर आश्चर्य आकर भी आश्चर्य नहीं होता। उसने दृढ़ताके साथ कह दिया कि मैं यह शादी नहीं करूँगा। लेकिन उसने मुझसे अकेलेमें यह भी कहा कि चाचाजी, मैं और विवाह करूँगा ही नहीं, करूँगा तो उसीसे करूँगा। उस पत्रको वह अपनेसे अलहदा नहीं करता है। और मैं देखता हूँ कि उस व्रजनन्दनका ठाठ-बाट आप ही कम होता जा रहा है। सादा रहने लगा है और अपने प्रति सगर्व बिल्कुल भी नहीं दीखता है। पहले विजेता बनना चाहता था, अब विनयावनत दीखता है और आवश्यकसे अधिक बात नहीं करता। एक बार प्रदर्शिनीमें मिल गया। मैं तो देखकर हैरतमें रह गया। व्रजनन्दन एकाएक पहिचाना भी न जाता था। मैंने कहा—व्रजनन्दन, कहो क्या हाल है?

उसने प्रणाम करके कहा—अच्छा है।

वह मेरे घरपर भी आया।

पत्नीने उसे बहुत प्रेम किया और बहुत बहुत बधाइयाँ दीं कि ऐसी लड़कीसे शादी होनेसे चलो भगवानने समयपर रक्षा कर दी। जाह्नवी नामकी लड़कीकी एक एक छिपी बात बिरजूकी चाचीको मालूम हो गई है। वह बातें—ओः! कुछ न पूछो, बिरजू भैया! मुँहसे भगवान किसीकी बुराई न करावे। लेकिन,—

फिर कहा—भई, अब बहूके बिना काम कबतक हम चलावें, तू ही बता। क्यों रे, अपनी चाचीको बुढ़ापेमें भी तू आराम नहीं देगा? सुनता है कि नहीं?

व्रजनन्दन चुपचाप सुनता रहा।

पत्नीने कहा—और यह तुझे हो क्या गया है? अपने चाचाकी बात तुझे भी लग गई है क्या? न ढंगके कपड़े, न रीतकी बातें। उन्हें तो अच्छे कपड़े-लत्ते सोमते नहीं हैं। तू क्यों ऐसा रहने लगा है रे?

व्रजनन्दनने कहा—कुछ नहीं, चाची। और कपड़े घर रक्खे हैं।

अकेले पाकर मैंने भी उससे कहा—व्रजनन्दन, बात तो सही है। अब शादी करके काममें लगना चाहिए और घर बसाना चाहिए। है कि नहीं?

व्रजनन्दनने मुझे देखते हुए बड़े बूढ़ेकी तरह कहा—अभी तो बहुत उमर पड़ी है, चाचाजी।

मैंने इस बातको ज़्यादा नहीं बढ़ाया।

अब खिड़कीके पार इतवारको, सोमवारको, मंगलवारको और आज बुधवारको भी सबेरे ही सबेरे छतपर नित रोटीके मिस कौओंको पुकार पुकार कर बुलाने-खिलानेवाली यह जो लड़की देख रहा हूँ सो क्या जाह्नवी है? जाह्नवीको मैंने एक ही बार देखा है, इसलिए, मनको कुछ निश्चय नहीं होता है। क़द भी इतना ही था; लावण्य शायद उस जाह्नवीमें अधिक था। पर यह वह नहीं है,—जाह्नवी नहीं है, ऐसी दिलासा मैं मनको तनिक भी नहीं दे पाता हूँ। सबेरे ही सबेरे इतने कौए बुला लेती है कि खुद दीखती ही नहीं, काले काले वे ही वे दीखते हैं। और वे भी उसके चारों ओर ऐसी छीन-झपट-सी करते हुए उड़ते रहते हैं मानों बड़े स्वादसे, बड़े प्रेमसे, चोंथ-चोंथकर उसे खानेके लिए आपसमें बदाबदी मचा रहे हैं। पर उनसे घिरी वह कहती है, "आओ, कौओ, आओ।" जब वे आ जाते हैं तो गाती है—

"कागा चुन चुन खाइयो।"

और जब जाने कहाँ कहाँके कौए इकट्ठेके इकट्ठे काँऊँ काँऊँ करते हुए चुन-चुनकर खाने लगते हैं और फिर भी खाँऊँ खाँऊँ करके उससे भी ज़्यादा माँगने लगते हैं तब वह चीख़ मचा कर चिल्लाती है—कि ओरे कागा, नहीं, ये—

"दो नैना मत खाइयो।
मत खाइयो—
पीउ मिलनकी आस।"

एक गौ

हिसार और उसके आसपासके हिस्सेको हरियाना कहते हैं। वहाँके लोग खूब तगड़े होते हैं, गाय-बैल और भी तन्दुरुस्त और क़द्दावर होते हैं। वहाँकी नस्ल मशहूर है।

उसी हरियानेके एक गाँवमें एक ज़मींदार रहता था। दो पुश्त पहले उसके घरानेकी अच्छी हालत थी। घी-दूध था, बाल-बच्चे थे, मान-प्रतिष्ठा थी। पर धीरे-धीरे अवस्था बिगड़ती गई। आज हीरासिंहको यह समझ नहीं आता है कि अपनी बीबी, दो बच्चे, खुद, और अपनी सुन्दरिया गायकी परवरिश कैसे करे?

राजकी अमलदारी बदल गई है, और लोगोंकी निगाहें भी फिर गई हैं। शहर बड़ेसे और बड़े हो गये हैं और वहाँ ऐसी ऊँची ऊँची हवेलियाँ खड़ी होती जाती हैं कि उनकी ओर देखा नहीं जाता है। कल-कारखाने और पुतलीघर खड़े हो गये हैं। बाइसिकिलें और मोटरें आ गई हैं। इनसे ज़िन्दगी तेज़ पड़ गई है और बाज़ारमें मँहगी आ गई है। इधर गाँव उजाड़ हो गये हैं और खुशहालीकी जगह बेचारगी फैल रही है। हरियानेके बैल खूबसूरत तो अब भी मालूम होते हैं, और उन्हें देखकर खुशी भी होती है; लेकिन, अब उनकी उतनी माँग नहीं है। चुनांचे हीरासिंह भी अपने बाप-दादोंके समान ज़रूरी आदमी अब नहीं रह गया है। हीरासिंहको बहुत-सी बातें बहुत कम समझमें आती हैं। वह आँख फाड़कर देखना चाहता है कि यह क्या बात है कि उसके घरानेका महत्त्व इतना कम रह गया है। अन्तमें उसने सोचा कि यह भाग्य है, नहीं तो और क्या?

उसकी सुन्दरिया गाय डील-डौलमें इतनी बड़ी और इतनी तन्दुरुस्त थी कि लोगोंको ईर्ष्या होती थी। उसी सुन्दरियाको अब हीरासिंह ठीक ठीक खाना नहीं जुटा पाता था। इस गायपर उसे गर्व था। बहुत ही मुहब्बतसे उसे उसने पाला था। नन्हीं बछिया थी, तबसे वह हीरासिंहके यहाँ थी। हीरासिंहको अपनी गरीबीका अपने लिए उतना दुख नहीं था, जितना उस गायके लिए। जब उसके

भी खाने-पीनेमें तोड़ आने लगी तो हीरासिंहके मनको बड़ी विथा हुई। क्या वह उसको बेच दे? उसी गाँवके पटवारीने दो सौ रुपये उस गायके लगा दिये थे। दो सौ रुपये थोड़े नहीं होते। लेकिन अव्वल तो सुन्दरियाको हीरासिंह बेचे कैसे? इसमें उसकी आत्मा दुखती थी। फिर इसी गाँवमें रहकर सुन्दरिया दूसरेके यहाँ बँधी रहे और हीरासिंह अपने बापदादोंके घरमें बैठा टुकुर टुकुर देखा करे, यह हीरासिंहसे कैसे सहा जायगा।

उसका बड़ा लड़का जवाहरसिंह बड़ा तगड़ा जवान उठा था। उन्नीस वर्षकी उम्र थी, मसें भीगी थीं; पर इस उमरमें अपनेसे ज्यौढ़ेको वह कुछ नहीं समझता था। सुन्दरिया गायको वह मौसी कहा करता था। उसे मानता भी उतना ही था। हीरासिंहके मनमें दुर्दिन देखकर कभी गायके बेचनेकी बात उठती थी तो जवाहरसिंहके डरसे रह जाता था। ऐसा हुआ तो जवाहर डंडा उठाकर, रार मोल लेकर, उसको फिर वहाँसे खोलकर नहीं ले आयेगा, इसका भरोसा हीरासिंहको नहीं था। जवाहरसिंह उजड्ड ही तो है। सुन्दरियाके मामलेमें भला वह किसीकी सुननेवाला है? ऐसे नाहक रारके बीज पड़ जायँगे, और क्या!

पर दुर्भाग्य भी सिरपरसे टलता न था। पैसे-पैसेकी तंगी होने लगी थी। और तो सब भुगत लिया जाय पर अपने आश्रितजनोंकी भूख कैसे भुगती जाय?

एक दिन जवाहरसिंहको बुलाकर कहा—मैं दिल्ली जाता हूँ। वहाँ बड़ी बड़ी कोठियाँ हैं, बड़े बड़े लोग हैं। हमारे गाँवके कितने ही आदमी वहाँ हैं। सो कोई न कोई नौकरी मिल ही जायगी। नहीं तो तुम्हीं सोचो, ऐसे कैसे काम चलेगा। इतने तुम यहाँ देख-भाल रखना। वहाँ ठीक होनेपर तुम सब लोगोंको भी बुला लूँगा।

दिल्लीमें जाकर एक सेठके यहाँ चौकीदारीकी नौकरी उसे मिल गई। हवेलीके बाहर ज्योढ़ीमें एक कोठरी रहनेको भी मिल गई।

एक रोज़ सेठने हीरासिंहसे कहा—तुम तो हरियानेकी तरफके रहनेवाले हो ना। वहाँकी गाय बड़ी अच्छी होती है। हमें दूधकी तकलीफ है। उधरकी एक अच्छी गायका बन्दोबस्त हमारे लिए करके दो।

हीरासिंहने पूछा—कितने दूधकी और कितनी कीमतकी चाहिए?

सेठने कहा—कीमत जो मुनासिब हो देंगे, पर दूध थनके नीचे खूब होना चाहिए। गाय खूब सुन्दर तगड़ी होनी चाहिए।

हीरासिंह सुन्दरियाकी बात सोचने लगा। उसने कहा—एक है तो मेरी निगाहमें। पर उसका मालिक बेचे तब है।

सेठने कहा—कैसी गाय है?

हीरासिंहने कहा—गौ तो ऐसी है कि माके समान है। और दूध देनेमें कामधेनु। पन्द्रह सेर दूध उसके तले उतरता है।

सेठने पूछा—तो उसका मालिक किसी शर्तपर नहीं बेच सकता?

हीरासिंह–उसके दो सौ रुपये लग गये हैं।

सेठ—दो सौ! चलो, पाँच हम और ज़्यादह देंगे।

पाँच रुपये और ज्यादहकी बात सुनकर हीराको दुख हुआ। वह कुछ शर्मसे और कुछ तानेमें मुसकराया भी।

सेठने कहा—ऐसी भी क्या बात है। दो-चार रुपये और बढ़ती दे देंगे। बस?

हीरासिंहने कहा—अच्छी बात है। मैं कहूँगा।

हीरासिंहको इस घड़ी दुख बहुत हो रहा था। एक तो इसलिए कि वह जानता था कि गायको बेचनेके लिए वह राज़ी होता जा रहा है। दूसरे दुख इसलिए भी हुआ कि उसने सेठसे सच्ची बात नहीं कही।

सेठने कहा—देखो, गाय अच्छी है और उसके तले पन्द्रह सेर दूध पक्का है, तो पाँच-दस रुपयेके पीछे बात कच्ची मत करना।

हीरासिंहने तब लज्जासे कहा—जी, सच्ची बात यह है कि गाय वह अपनी ही है।

सेठजीने खुश होकर कहा—तब तो फिर ठीक बात है। तुम तो अपने आदमी ठहरे। तुम्हारे लिए जैसे दो सौ वैसे दो-सौ पाँच। गाय कब ले आओगे? मेरी रायमें आज ही चले जाओ।

हीरासिंह शरमके मारे कुछ बोल नहीं सका। उसने सोचा था कि गौ आख़िर बेचनी तो होगी ही। अच्छा है कि वह गाँवसे दूर कहीं इसी जगह रहे। रुपये पाँच कम, पाँच ज़्यादह,—यह कोई ऐसी बात नहीं। पर गाँवके पटवारीके यहाँ तो सुन्दरिया उससे दी न जायगी। उसने सेठके जवाबमें कहा—जो हुकम मैं आज ही चला जाता हूँ। लेकिन एक बात है,—मेरा लड़का जवाहर राज़ी हो जाय, तब है। वह लड़का बड़ा अक्खड़ है और गायको प्यार भी बहुत करता है।

सेठने समझा, यह कुछ और पैसे पानेका बहाना है। बोले—अच्छा, दो सौ पाँच ले लेना। चलो दो सौ सात सही। पर गाय लाओ तो। दूध पन्द्रह सेर पक्केकी शरत है।

हीरासिंह लाजसे गड़ा जाने लगा। वह कैसे बताये कि रुपयेकी बात बिलकुल नहीं है। तिसपर ये सेठ तो उसके अन्नदाता हैं। फिर ये ऐसी बातें क्यों करते हैं? उसे जवाहरकी तरफसे सचमुच शंका थी। लेकिन इन गरीबीके दिनोंमें गाय दिनपर दिन एक समस्या होती जाती थी। उसको रखना भारी पड़ रहा था। पर अपने तनको क्या काटा जाता है? काटते कितनी वेदना होती है। यही हीरासिंहका हाल था। सुन्दरिया क्या केवल एक गौ थी? वह तो गौ 'माता' थी,—उनके परिवारका अंग थी। उसीको रुपयेके मोल बेचना आसान काम न था। पर हीरासिंहको यह ढारस था कि सेठके यहाँ रहकर गौ उसकी आँखोंके आगे तो रहेगी। सेवा-टहल भी यहाँ वह गौकी कर लिया करेगा। उसकी टहल करके यहाँ उसके चित्तको कुछ तो सुख रहेगा। तब उसने सेठसे कहा—रुपयेकी बात बिलकुल नहीं है सेठजी! वह लड़का जवाहर ऐसा ही है। पूरा बेबस जीव है। खैर, आप कहें, तो आज मैं जाता हूँ। उसे समझा-बुझा सका, तो गौको लेता ही आऊँगा। उसका नाम हमने सुन्दरिया रखा है।

"हाँ, लेते आना। पर पन्द्रह सेरकी बात है ना? इतमीनान हो जाय, तब सौदा पक्का रहेगा। कुछ रुपये चाहिए तो ले जाओ।"

हीरासिंह बहुत ही लज्जित हुआ। उसकी गौके बारेमें बेऐतबारी उसे अच्छी नहीं लगती थी। उसने कहा—जी, रुपये कहाँ जाते हैं, फिर मिल जायँगे। पर यह कहे देता हूँ कि गाय वह एक ही है। मुकाबलेकी दूसरी मिल जाय, तो मुझे जो चाहे कहना।

सेठ साहबने स्नेह भावसे सौ रुपये मँगाकर उसी वक्त हीरासिंहको थमा दिये और कहा—देखो हीरासिंह, आज ही चले जाओ, और गाय कबतक आ जायगी? परसोंतक?

हीरासिंहने कहा—यहाँसे पचास कोस गाँव है। तीन रोज़ तो आने-जानेमें लग जायँगे।

सेठजीने कहा—पचास कोस? तीस कोसकी मंजिल एक दिनमें की जाती है। तुम मुझको क्या समझते हो?

तीस कोसकी मंजिल सेठ पैदल एक दिन छोड़ तीन दिनमें भी कर लें तो हीरासिंह जाने। लेकिन वह कुछ बोला नहीं।

सेठने कहा—अच्छा, तो चौथे दिन गाय यहाँ आ जाय।

हीरासिंहने कहा—जी, कमसे कम पाँच पूरे रोज़ तो लगेंगे ही।

सेठजीने कहा—पाँच?

हीरासिंहने विनीत भावसे कहा—दूर जगह है सेठजी!

सेठजीने कहा—अच्छी बात है। पर देर मत लगाना, यहाँ कामका हर्ज होगा, जानते हो? खैर, इन दिनों तुम्हारी तनख्वाह न काटनेको कह देंगे।

हीरासिंहने जवाबमें कुछ नहीं कहा, और वह उसी रोज चला भी गया।

ज्यों त्यों जवाहरसिंहको समझा-बुझाकर गाय वह ले आया। देखकर सेठ बड़े खुश हुए। सचमुच वैसी सुन्दर स्वस्थ गौ उन्होंने अब तक न देखी थी। हीरासिंहने खुद उसे सानी-पानी किया, सहलाया और अपने ही हाथों उसे दुहा। दूध पन्द्रह सेरसे कुछ ऊपर ही बैठा। सेठजीने खुशीसे दो सौके ऊपर सात रुपये और हीरासिंहको दिये और अपने घोसीको बुलाकर गौ उसके सुपुर्द की।

रुपये तो लिये, लेकिन हीरासिंहका जी भरा आ रहा था। जब सेठजीका घोसी गायको ले जाने लगा, तब गाय उसके साथ चलना ही नहीं चाहती थी। घोसीने झल्लाकर उसे मारनेको रस्सी भी उठाई, लेकिन सेठजीने मना कर दिया। वह गौ इतनी भोली मालूम होती थी कि सचमुच घोसीका हाथ भी उसे मारनेको हिम्मतसे ही उठ सका था। अब जब वह हाथ इस भाँति उठ करके भी रुका रह गया तब घोसीको भी खुशी हुई क्योंकि गौकी आँखोंके कोयेमें गाढ़े गाढ़े आँसू भर रहे थे। वे आँसू धीमे धीमे बहने भी लगे।

हीरासिंहने कहा—सेठजी, इस गौकी नौकरीपर मुझे कर दीजिए, चाहे तनख्वाहमें दो रुपये कम कर दीजिएगा।

सेठजीने कहा—हीरासिंह, तुम्हारे जैसा ईमानदार चौकीदार हमें दूसरा कौन मिलेगा? तनख्वाह तो हम तुम्हारी एक रुपया और भी बढ़ा सकते हैं पर तुमको ड्योढ़ीपर ही रहना होगा।

उस समय हीरासिंहको बहुत दुःख हुआ। वह दुःख इस बातसे और दुःसह हो गया कि सेठका विश्वास उसपर है। वह गौको सम्बोधन करके बोला—जाओ, बहिनी! जाओ।

गौने सुनकर मुँह जरा ऊपर उठाकर हीरासिंहकी तरफ देखा, मानो पूछती हो, जाऊँ ! तुम कहते हो जाऊँ ?

हीरासिंह उसके पास आ गया। उसने उसके गलेपर थपथपाया, माथेपर हाथ फेरा, गलबन्ध सहलाया और काँपती वाणीमें कहा—जाओ बहिनी सुन्दरिया, जाओ। मैं कहीं दूर थोड़े ही हूँ। मैं तो यहाँ ही हूँ।

हीरासिंहके आशीर्वादमें भीगती हुई गौ चुप खड़ी थी। जानेकी बातपर फिर जरा मुँह ऊपर उठा उठी और भरी आँखोंसे उसे देखती हुई मानो पूछने लगी—जाऊँ ? तुम कहते हो जाऊँ ?

हीरासिंहने थपथपाते हुए पुचकार कर कहा—जाओ बहिनी ! सोच न करो। फिर घोसीको आश्वासन देकर कहा—लो, अब ले जाओ, अब चली जायगी। यह कहकर हीरासिंहने गायके गलेकी रस्सी अपने हाथों उस घोसीको थमा दी।

गाय फिर चुपचाप डग डग घोसीके पीछे पीछे चली गई। हीरासिंह एकटक देखता रहा। उसने आँसू नहीं आने दिये। हाथके नोटोंको उसने जोरसे पकड़ रखा। नोटोंपर वह मुट्ठी इतनी जोरसे कस गई कि अगर उन नोटोंमें जान होती, तो बेचारे रो उठते। वे कुचले-कुचलाये मुट्ठीमें बँधे रह गये।

उसके बाद सेटजी वहाँसे चले गये और हीरासिंह भी चलकर अपनी कोठरीमें आ गया। कुछ देर वह उस हवेलीकी ड्योढ़ीके बाहर शून्य भावसे देखता रहा। भीतर हवेली थी, बाहर बिछा शहर था, जिसके पार खुला मैदान और खुली हवा थी और उनके बीचमें आने-जानेका रास्ता छोड़े हुए, फिर भी उस रास्तेको रोके हुए, यह ड्योढ़ी थी। कुछ देर तो वह इस तरह देखा किया, फिर मुँह झुकाकर हुक्का गुड़गुड़ाने लगा। अनबूझ भावसे वह इस व्याप्त-विस्तृत शून्यमें देखता रह गया।

लेकिन अगले दिन गड़बड़ उपस्थित हुई। सेठजीने हीरासिंहको बुलाकर कहा—यह तुम मुझे धोखा तो नहीं देना चाहते ? गायके नीचेसे सबेरे पाँच सेर भी तो दूध नहीं उतरा। शामको भी यही हाल रहा है। मेरी आँखोंमें तुम धूल झोंकना चाहते हो ?

हीरासिंहने बड़ी कठिनाईसे कहा—मैंने तो पन्द्रह सेरसे ऊपर दुहकर आपके सामने दे दिया था।

" दे दिया होगा। लेकिन अब क्या बात हो गई ? जो न तुमने उसे कोई दवा खिला दी हो ? "

हीरासिंहका जी दुखसे और ग्लानिसे कठिन हो आया। उसने कहा—दवा मैंने नहीं खिलाई और कोई दवा दूध ज़्यादह नहीं निकलवा सकती। इसके आगे और मैं कुछ नहीं जानता।

सेठजीने कहा—तो जाकर अपनी गायको देखो। अगर दूध नहीं देती, तो क्या मुझे मुफ़्तका जुर्माना भुगतना है!

हीरासिंह गायके पास गया। वह उसकी गरदनसे लगकर खड़ा हो गया। उसने गायको चूमा, फिर कहा—सुन्दरिया, तू मेरी रुसवाई क्यों कराती है? तेरे बारेमें मैं किसीसे धोखा करूँगा!

गायने उसी भाँति मुँह ऊपर उठाया, मानो पूछा—मुझे कहते हो? बोलो, मुझे क्या कहते हो?

हीरासिंहने घोसीसे कहा—बंटा लाओ तो।

घोसीने कहा—मैं आध घंटा पहले तो दुह चुका हूँ।

हीरासिंहने कहा—तुम बंटा लाओ।

उसके बाद साढ़े तेरह सेर दूध उसके तलेसे पक्का तौलकर हीरासिंहने घोसीको दे दिया। कहा—यह दूध सेठजीको दे देना। फिर गौके गलेपर अपना सिर डालकर हीरासिंह बोला—सुन्दरी! देख, मेरी ओछी मत कर। तू यहाँ है, मैं दूर हूँ, तो क्या इसमें मुझे सुख है?

गौ मुँह झुकाये वैसे ही खड़ी रही।

"देखना सुन्दरिया! मेरी रुसवाई न करना।" गद्‌गद् कण्ठसे यह कहकर उसे थपथपाते हुए हीरासिंह चला गया।

पर गौ अपनी बिथा किससे कहे? कह नहीं पाती, इसीसे सही नहीं जाती। क्या वह हीरासिंहकी रुसवाई चाहती है? उसे सह सकती है? लेकिन दूध नीचे आता ही नहीं, तब क्या करे? वह तो चढ़ चढ़ जाता है, सूख सूख जाता है, गौ बेचारी करे तो क्या?

सो फिर शिकायत हो चली। आये दिन बखेड़े खड़े होने लगे। शाम इतना दूध दिया, सबेरे इससे भी कम दिया। कल तो चढ़ा ही गई थी। इतने उनहार-मनुहार किये, बसमें ही न आई। गाय है कि बवाल है। जीकी एक साँसत ही पाल ली।

सेठने कहा—क्यों हीरासिंह, यह क्या है?

हीरासिंहने कहा—मैं क्या जानता हूँ—

सेठने कहा—क्या यह सरासर धोखा नहीं है ?

हीरासिंह चुप रह गया।

सेठने कहा—ऐसा ही है तो ले जाओ अपनी गाय और रुपये मेरे वापिस करो।

लेकिन रुपये हीरासिंह गाँव भेज चुका था, और उसमेंसे काफ़ी रकम वहाँके मकानकी मरम्मतमें काम आ चुकी थी। हीरासिंह फिर चुप रह गया।

सेठजीने कहा—क्या कहते हो ?

हीरासिंह क्या कहे ?

सेठजीने कहा—अच्छा, तनख्वाहमेंसे रकम कटती जायगी और जब पूरी हो जायगी, तो गाय अपनी ले जाना।

हीरासिंहने सुन लिया और सुनकर वह अपनी ड्योढ़ीमें आ गया। उस ड्योढ़ीके इधर हवेली है, उधर शहर बिछा है, जिसके पार खुला मैदान है और खुली हवा है। दोनों ओर टुक-देर शून्यभावसे देखकर वह हुक्का गुड़गुड़ाने लगा।

अगले दिन सवेरेसे ही एक प्रश्न प्रकार-प्रकारकी आलोचना-विवेचनाका विषय बना हुआ था। बात यह थी कि सवेरे ही सवेरे बहुत-सा दूध ड्योढ़ीमें बिखरा हुआ पाया गया। उससे पहली शाम सुन्दरी गायने दूध देनेसे बिलकुल इनकार कर दिया था। उसे बहलाया गया, फुसलाया गया, धमकाया और पीटा भी गया था। फिर भी वह राहपर न आई थी। अब यह इतना सारा दूध यहाँ कैसे बिखरा है ? यह यहाँ आया तो कहाँसे आया ?

लोगोंका अनुमान था कि कोई दूध लेकर ड्योढ़ीमें आया था, या ड्योढ़ीमें जा रहा था, तभी उसके हाथसे यह बिखर गया है। अब वह दूध लेकर आनेवाला आदमी कौन हो सकता है ? लोगोंका गुमान यह था कि हीरासिंह वह व्यक्ति हो सकता है। हीरासिंह चुपचाप था। वह लज्जित और सचमुच अभियुक्त मालूम होता था। हीरासिंहके दोषी होनेके अनुमानका कारण यह भी था कि हवेलीके और नौकर उससे प्रसन्न न थे। वह नौकरके ढंगका नौकर ही नहीं था। नौकरीसे आगे बढ़कर स्वामि-भक्तिका भी उसे चाव था जो कि नौकरीके लिए असह्य दुर्गुण नहीं तो और क्या है ?

सेठजीने पूछा—हीरासिंह, यह क्या बात है ?

हीरासिंह चुप रह गया।

सेठजीने कहा—इसका पता लगाओ, हीरासिंह। नहीं तो अच्छा न होगा।

हीरासिंह सिर झुकाकर रह गया। पर कुछ ही देरमें उसने सहसा चमत्कृत होकर पूछा—रात गाय खुली तो नहीं रह गई थी? जरूर यही बात है। आप इसकी खबर तो लीजिए।

घोसीको बुलाकर पूछा गया तो उसने कहा कि ऐसी चूक कभी उससे जनम-जीते-जी हो सकती ही नहीं है, और कल रात तो हुजूर, पक्के दावंके साथ गाय ठीक तरहसे बँधी रही है।

हीरासिंहने कहा—ऐसा हो नहीं सकता—

सेठजीने कहा—तो फिर तुम्हारी समझमें क्या हो सकता है।

हीरासिंहने स्थिर भावसे कहा—गाय रातको आकर ड्योढ़ीमें खड़ी रही है और अपना दूध गिरा गई है।

यह कहकर हीरासिंह इतना लीन हो रहा कि मानो गौके इस दुष्कृतपर अतिशय कृतज्ञतामें डूब गया हो।

सेठजी ऐसी अनहोनी बातपर कुछ देर भी नहीं ठहरे। उन्होंने कहा—ऐसी मसनुई बातें औरोंसे कहना। जाओ, खबर लगाओ कि वह कौन आदमी है, जिसकी यह करतूत है।

हीरासिंह ड्योढ़ीमें चला गया। ड्योढ़ी इस हवेली और उस दुनियाके दरमियान है और उसके लिए घर बनी हुई है। और क्षणेक फिर शून्यमें देखते रहकर सिर झुकाकर वह हुक्का गुड़गुड़ाने लगा।

रातको जब वह सो रहा था, उसे मालूम हुआ कि दरवाज़ेपर कुछ रगड़की आवाज़ आई। उठकर दरवाज़ा खोला कि देखता है, सुन्दरिया खड़ी है। इस गौके भीतर इन दिनों बहुत विथा घुटकर रह गई थी। वह तकलीफ बाहर आना ही चाहती थी। हीरासिंहने देखा—मुँह ऊपर उठाकर उसकी सुन्दरिया उसे अभियुक्ताकी आँखोंसे देख रही है। मानो अत्यन्त लज्जित बनी क्षमा-याचना कर रही हो, कहती हो,—मैं अपराधिनी हूँ। लेकिन मुझे क्षमा कर देना। मैं बड़ी दुखिया हूँ।

हीरासिंहने कहा—बहिनी, यह तुमने क्या किया?

कैसा आश्चर्य! देखता क्या है कि गौ मानव वाणीमें बोल रही है—मैं क्या करूँ?

हीरासिंहने कहा—बहिन, तुम बेवफाई क्यों करती हो? सेठको अपना दूध

क्यों नहीं देती हो? बहिनी! वह अब तुम्हारे मालिक हैं। कहते कहते हीरा-सिंहकी वाणी काँप गई, मानो कहीं भीतर इस मालिक होनेकी बातके सच होनेमें उसको खुद शंका हो।

सुन्दरीने पूछा—मालिक! मालिक क्या होता है?

हीरासिंहने कहा—तुम्हारी कीमतके रुपये सेठने मुझे दिये थे। ऐसे वह तुम्हारे मालिक हुए।

गौने कहा—ऐसे तुम्हारे यहाँ मालिक हुआ करते हैं! मैं इस बातको जानती नहीं हूँ। लेकिन तुम मुझे प्रेम करते हो, सो तुम मेरे क्या हो?

हीरासिंहने धीर भावसे कहा—मैं तुम्हारा कुछ भी नहीं हूँ।

गौ बोली—तुम मेरे कुछ भी नहीं हो, यह तुम कहते हो? तुम झूठ भी नहीं कहते होगे। तुम जो जानते हो, वह मैं नहीं जानती। लेकिन, मालिककी बातके साथ दूध देनेकी बात मुझसे तुम कैसी करते हो? मालिक हैं, तो मैं उनके घरमें उनके खूँटेसे बँधी रहती तो हूँ। रातमें भी चोरी करके आई हूँ, तो भी उनकी ड्योढ़ीसे बाहर नहीं हूँ। पर दूध जो मेरे उतरता ही नहीं, उसका क्या करूँ? मेरे भीतरका दूध मेरे पूरी तरह बसमें नहीं है। कल रात वह आप ही आप इतना-सारा दूध यहाँ बिखर गया। मैं यह सोचकर नहीं आई थी। हाँ, मुझे लगता है कि बिखरेगा तो वह यों ही बिखर जायगा। तुम ड्योढ़ीमें रहोगे तो शायद ड्योढ़ीमें बिखर जायगा। ड्योढ़ीसे पार चले जाओगे तो शायद भीतर ही भीतर सूख जायगा। मैं जानती हूँ, इससे तुम्हें दुख पहुँचता है। मुझे भी दुख पहुँचता है। शायद यह ठीक बात नहीं हो। मेरा यहाँ तक आ जाना भी ठीक बात नहीं हो। लेकिन, जितना मेरा बस है, मैं कह चुकी हूँ। तुमने रुपये लिये हैं, और सेठ मेरे मालिक हैं, तो उनके घरमें उनके खूँटेसे मैं रह लूँगी। रह तो मैं रही ही हूँ। पर उससे आगे मेरा वश कितना है, तुम्हीं सोच लो। मैं गौ हूँ, रुपयेके लेन-देनसे अधिकारका और प्रेमका लेन-देन जिस भावसे तुम्हारी दुनियामें होता है, उसे मैं नहीं जानती। फिर भी तुम्हारी दुनियामें तुम्हारे नियम मानती जाऊँगी। लेकिन, तुम मुझे अपने हृदयका इतना स्नेह देते हो, तब तुम मेरे कुछ भी नहीं हो और मैं अपने हृदयका दूध बिलकुल तुम्हारे प्रति नहीं बहा सकती—यह बात मैं किस विध मान लूँ? मुझसे नहीं मानी जाती, सच, नहीं मानी जाती। फिर भी जो तुम कहोगे, सब मैं सच-कुछ मानूँगी।

हीरासिंहने विषाद-भरे स्वरमें पूछा—तो मैं तुम्हारा क्या हूँ ?

गौने कहा—सो क्या मेरे कहनेकी बात है ? फिर शब्द मैं विशेष नहीं जानती। दुख है, वही मेरे पास है। उससे जो शब्द बन सकते हैं, उन्हीं तक मेरी पहुँच है। आगे शब्दोंमें मेरी गति नहीं है। जो भाव मनमें है, उसके लिए संज्ञा मेरे जुटाये जुटती नहीं। पशु जो मैं हूँ। संज्ञा तुम्हारे समाजकी स्वीकृतिके लिए ज़रूरी होती होगी; लेकिन, मैं तुम्हारे समाजकी नहीं हूँ। मैं निरी गौ हूँ। तब मैं कह सकती हूँ कि तुम मेरे कोई हो, कोई न हो, दूध मेरा किसी औरके प्रति नहीं बहेगा। इसमें मैं या तुम या कोई शायद कुछ भी नहीं कर सकेंगे। इस बातमें मुझपर मेरा भी बस कैसे चलेगा ? तुम जानते तो हो, मैं कितनी परवस हूँ।

हीरासिंह गौके कण्ठसे लिपटकर सुबकने लगा। बोला—सुन्दरिया ! तो मैं क्या करूँ ?

गौने कम्पित वाणीमें कहा—मैं क्या कहूँ ? क्या कहूँ ?

हीरासिंहने कहा—जो कहो, मैं वही करूँगा सुन्दरी ! रुपयेका लेन-देन है; लेकिन, मेरी गौ, मैंने जान लिया, कि उससे आगे भी कुछ है। शायद उससे आगे ही सब-कुछ है। जो कहो वही करूँगा, मेरी सुन्दरिया !

गौने कहा—जो तुमसे सुन रही हूँ, उसके आगे मेरी कुछ चाहना नहीं है। इतनेमें ही मेरी सारी कामनाएँ भर गई हैं। आगे तो तुम्हारी इच्छा है और मेरा वन है। मेरा विश्वास करो, मैं कुछ नहीं माँगती और मैं सब सह लूँगी।

सुनकर हीरासिंह बहुत ही विह्वल हो आया। उसके आँसू रोके न रुके। वह गौकी गर्दनसे लिपटकर तरह-तरहके प्रेम-सम्बोधन करने लगा। उसके बाद हीरासिंहने बहुतसे आश्वासनके वचनोंके साथ गौको विदा किया।

अगले सवेरे उसने सेठजीसे कहा कि आप मुझसे जितने महीनेकी चाहें कसकर चाकरी लीजिए; पर गौ आज ही यहाँसे हमारे गाँव चली जायगी। रुपये जब आपके चुकता हो जायँ, मुझसे कह दीजिएगा। तब मैं भी छुट्टी ले जाऊँगा।

सेठजीकी पहले तो राजी होनेकी तबियत न हुई, फिर उन्होंने कहा—हाँ, ले जाओ, ले जाओ। पर पूरा ढाई सौ रुपयेका तावान तुम्हें भरना पड़ेगा।

हीरासिंह तावान भरनेको खुशीसे राज़ी हुआ और गौको उसी रोज ले गया।

चिड़ियाकी बच्ची

माधवदासने अपनी सङ्गमरमरकी नई कोठी बनवाई है, उसके सामने बहुत सुहावना बग़ीचा भी लगवाया है। उनको कलासे बहुत प्रेम है। उनके पास धनकी कमी नहीं है और कोई व्यसन छू नहीं गया है। सुन्दर अभिरुचिके आदमी हैं। फूल-पौधे रकाबियोंसे हौज़ोंमें लगे। फव्वारोंमें उछलता हुआ पानी उन्हें बहुत अच्छा लगता है। समय भी उनके पास काफ़ी है। शामको जब दिनकी गर्मी ढल जाती है और आसमान कई रङ्गका हो जाता है तब कोठीके बाहर चबूतरेपर तख़्त डलवाकर मसनदके सहारे वह गलीचेपर बैठते हैं और प्रकृतिकी छटा निहारते हैं। इसमें मानो उनके मनको तृप्ति मिलती है। मित्र हुए तो उनसे विनोद-चर्चा करते हैं, नहीं तो पास रखे हुए फ़र्शी हुक्केकी सटकको मुँहमें दिये खयाल ही खयालमें सन्ध्याको स्वप्नकी भाँति गुज़ार देते हैं।

आज कुछ कुछ बादल थे। घटा गहरी नहीं थी। धूपका प्रकाश उनमेंसे छन-छंन कर आ रहा था। माधवदास मसनदके सहारे बैठे थे। उन्हें ज़िन्दगीमें क्या स्वाद नहीं मिला है? पर जी भर कर भी कुछ खाली-सा रहता है। इससे कभी मदिरा भी चख देखी है और यदा कदा अध्यात्मका घूँट ले ले लिया है। ऐसे ही यह-वह करते खुमारीमें दिन बीते हैं।

उस दिन सन्ध्या समय उनके देखते देखते सामनेकी गुलाबकी डालीपर एक चिड़िया आन बैठी। चिड़िया बहुत सुन्दर थी। उसकी गरदन बीचमें गहरी लाल थी और गुलाबी होते होते किनारोंपर ज़रा ज़रा नीली पड़ गई थी। पंख ऊपरसे चमकदार स्याह थे। उसका नन्हा-सा सिर तो बहुत ही प्यारा लगता था। और शरीरपर चित्र-विचित्र चित्रकारी थी। चिड़ियाको मानो माधवदासकी सत्ताका कुछ पता नहीं था और मानो तनिक देरका आराम भी उसे नहीं चाहिए था। अभी पर हिलाती थी, अभी फुदकती थी। वह खूब खुश मालूम होती थी। अपनी नन्हीं-सी चोंचसे प्यारी प्यारी आवाज़ निकाल रही थी।

माधवदासको वह चिड़िया बड़ी मनभावनी लगी। उसकी स्वच्छन्दता बड़ी प्यारी जान पड़ती थी। कुछ देर तक वह उस चिड़ियाका इस डालसे उस डाल थिरकना देखते रहे। इस समय वह अपना बहुत-कुछ भूल गये। उन्होंने उस चिड़ियासे कहा—आओ, तुम बड़ी अच्छी आई। यह बगीचा तुम लोगोंके बिना सूना लगता है। सुनो चिड़िया, तुम खुशीसे यह समझो कि यह बगीचा मैंने तुम्हारे लिए ही बनवाया है। तुम बेखटके यहाँ आया करो।

चिड़िया पहले तो असावधान रही। फिर यह जान कर कि बात उसीसे की जा रही है वह एकाएक तो घबराई। फिर सङ्कोचको जीतकर बोली—मुझको मालूम नहीं था कि यह बगीचा आपका है। मैं अभी चली जाती हूँ। पल-भर साँस लेने मैं यहाँ टिक गई थी।

माधवदासने कहा—हाँ, बग़ीचा तो मेरा है। यह सङ्गमरमरकी कोठी भी मेरी है। लेकिन इस सबको तुम अपना भी समझ सकती हो। सब कुछ तुम्हारा है। तुम कैसी भोली हो, कैसी प्यारी हो। जाओ नहीं, बैठो। मेरा मन तुमसे बहुत खुश होता है।

चिड़िया बहुत कुछ सकुचा गई। उसे बोध हुआ कि यह उससे गलती तो नहीं हुई कि वह यहाँ बैठ गई है। उसका थिरकना रुक गया। भयभीत-सी वह बोली—मैं थक कर यहाँ बैठ गई थी। मैं अभी चली जाऊँगी। बगीचा आपका है। मुझे माफ करें!

माधवदासने कहा—मेरी भोली चिड़िया, तुम्हें देख कर मेरा चित्त प्रफुल्लित हुआ है। मेरा महल भी सूना है। वहाँ कोई भी चहचहाता नहीं है। तुम्हें देखकर मेरी रानियोंका जी बहलेगा। तुम कैसी प्यारी हो, यहाँ ही तुम क्यों न रहो!

चिड़िया बोली—मैं माँके पास जा रही हूँ। सूरजकी धूप खाने और हवासे खेलने और फूलोंसे बात करने मैं ज़रा घरसे उड़ आई थी। अब साँझ हो गई है और मैं माँके पास जा रही हूँ। अभी अभी मैं चली जा रही हूँ। आप सोच न करें।

माधवदासने कहा—प्यारी चिड़िया, पगली मत बनो। देखो, तुम्हारे चारों तरफ़ कैसी बहार है। देखो, वह पानी खेल रहा है, उधर गुलाब हँस रहा है। भीतर महलमें चलो, जाने क्या क्या न पाओगी। मेरा दिल वीरान है। वहाँ

कब हँसी सुननेको मिलती है ? मेरे पास बहुत-सा सोना-मोती है। सोनेका एक बहुत सुंदर घर मैं तुम्हें बना दूँगा। मोतियोंकी झालर उसमें लटकेगी। तुम मुझे खुश रखना। और तुम्हें क्या चाहिए ? माँके पास बताओ क्या है ? तुम यहाँ ही सुखसे रहो, मेरी भोली गुड़िया।

चिड़िया इन बातोंसे बहुत डर गई। वह बोली—मैं भटक कर 'निक आरामके लिए इस डालीपर रुक गई थी। अब भूल कर भी ऐसी गलती नहीं होगी। मैं अभी यहाँसे उड़ी जा रही हूँ। तुम्हारी बातें मेरी समझमें नहीं आती हैं। मेरी माँके घोंसलेके बाहर बहुतेरी सुनहरी धूप बिखरी रहती है। मुझे और क्या करना है ? दो दाने माँ ला देती है और जब मैं पर खोलने बाहर जाती हूँ तो माँ मेरी बाट देखती रहती है। मुझे तुम और कुछ मत समझो, मैं अपनी माँकी हूँ।

माधवदासने कहा—भोली चिड़िया, तुम कहाँ रहती हो ? तुम मुझे नहीं जानती हो ?

चिड़िया—मैं माँको जानती हूँ, भाई-बहनोंको जानती हूँ, सूरजको और उसकी धूपको जानती हूँ। घास, पानी और फूलोंको जानती हूँ। महामान्य, तुम कौन हो ? मैं तुमको नहीं जानती।

माधवदास—तुम भोली हो चिड़िया। मुझको नहीं जाना, तब तुमने कुछ नहीं जाना। मैं ही तो हूँ सेठ माधवदास। मेरे पास क्या नहीं है। जो माँगो, मैं वही दे सकता हूँ।

चिड़िया—पर मेरी तो छोटी-सी जान है। आपके पास सब कुछ है। तब मुझे जाने दीजिए।

माधवदास—चिड़िया, तू निरी अनजान है। मुझे खुश करेगी तो मैं तुझे मालामाल कर सकता हूँ।

चिड़िया—तुम सेठ हो। मैं नहीं जानती, सेठ क्या होता है। पर सेठ कोई बड़ी बात होती होगी। मैं अनसमझ ठहरी। माँ मुझे बहुत प्यार करती है। वह मेरी राह देखती होगी। मैं मालामाल होकर क्या होऊँगी, मैं नहीं जानती। मालामाल किसे कहते हैं ? क्या मुझे वह तुम्हारा मालामाल होना चाहिए ?

सेठ—अरी चिड़िया, तुझे बुद्धि नहीं है। तू सोना नहीं जानती,—सोना ! उसीकी जगत्को तृष्णा है। वह सोना मेरे पास ढेरका ढेर है। तेरा घर समूचा सोनेका होगा। ऐसा पिंजरा बनवाऊँगा कि कहीं दुनियामें न होगा। ऐसा, कि

तू देखती रह जाय। तू उसके भीतर थिरक-फुदक कर मुझे खुश करियो। तेरा भाग्य खुल जायगा। तेरे पानी पीनेकी कटोरी भी सोनेकी होगी।

चिड़िया—वह सोना क्या चीज होती है ?

सेठ—तू क्या जानेगी। तू चिड़िया जो है। सोनेका मूल्य जाननेके लिए अभी तुझे बहुत सीखना है। बस यह जान ले कि मैं सेठ माधवदास तुझसे बात कर रहा हूँ। जिससे मैं बात तक कर लेता हूँ उसकी किस्मत खुल जाती है। तू अभी जगका हाल नहीं जानती। मेरी कोठियोंपर कोठियाँ हैं, बगीचोंपर बगीचे हैं। दास-दासियोंकी संख्या नहीं है। पर तुझसे मेरा चित्त प्रसन्न हुआ है। ऐसा वरदान कब किसीको मिलता है। री चिड़िया, तू इस बातको समझती क्यों नहीं ?

चिड़िया—सेठ, मैं नादान हूँ। मैं कुछ समझती नहीं। पर मुझको देर हो रही है। माँ मेरी बाट देखती होगी।

सेठ—ठहर ठहर, इस अपने पासके फूलको तूने देखा ? यह एक है। ऐसे अनगिनती फूल मेरे बगीचोंमें हैं। वे भाँति भाँतिके रङ्गके हैं। तरह तरहकी उनकी खुशबू है। चिड़िया, तैंने मेरा चित्त प्रसन्न किया है और वे सब फूल तेरे लिए खिला करेंगे। वहाँ घोसलेमें तेरी माँ है, पर माँ क्या है ? इस बहारके सामने तेरी माँ क्या है ? वहाँ तेरे घोंसलेमें कुछ भी तो नहीं है। तू अपनेको नहीं देखती ! कैसी सुन्दर तेरी गरदन, कैसे पर, कैसी रङ्गीन देह ! तू अपने मूल्यको क्यों नहीं जानती ! मैं तुझे सोनेसे मढ़कर तेरे मूल्यको चमका दूँगा। तैंने मेरे चित्तको प्रसन्न किया है। तू मत जा, यहीं रह।

चिड़िया—सेठ, मैं अपनेको नहीं जानती। इतना जानती हूँ कि माँ मेरी माँ है। और मुझे प्यार करती है। और मुझको यहाँ देर हो रही है। सेठ, मुझे यहाँ रात मत करो, रातमें अँधेरा बहुत हो जाता है और मैं राह भूल जाऊँगी।

सेठने कहा—अच्छा, चिड़िया जाती हो तो जाओ। पर इस बगीचेको अपना ही समझो। मुझको भी अपना ही समझो। तुम बड़ी सुन्दर हो।

यह कहनेके साथ ही सेठने एक बटन दबा दिया। उसके दबनेसे दूर कोठीके अन्दर आवाज हुई जिसे सुन कर एक दास झटपट भाग कर बाहर आया। यह सब छन-भरमें हो गया और चिड़िया कुछ भी नहीं समझी।

सेठ कहते रहे—तुम अभी माँके पास अवश्य जाओ। माँ बाट देखती होगी। पर कल आओगी न? कल आना, परसों आना, रोज रोज आना। तुम बड़ी सुन्दर लगती हो।

यह कहते कहते दासको सेठने इशारा कर दिया और वह नौकर चिड़ियाको पकड़नेके जतनमें चला।

सेठ कहते रहे—सच, तुम बड़ी सुन्दर लगती हो! तुम्हारे भाई-बहिन हैं? कितने भाई-बहिन हैं?

चिड़िया—दो बहिन, एक भाई है। पर मुझे देर हो रही है—

"हाँ हाँ जाना। अभी तो उजेला है। दो बहन, एक भाई है। बड़ी अच्छी बात है—"

पर चिड़ियाके मनके भीतर जाने क्यों चैन नहीं था। वह चौकन्नी हो हो चारों ओर देखती थी। उसने कहा—सेठ, मुझे देर हो रही है।

सेठने कहा—देर, अभी कहाँ? अभी उजेला है, मेरी प्यारी चिड़िया। तुम अपने घरका इतने और हाल सुनाओ। भय मत करो।

चिड़ियाने कहा—सेठ मुझे डर लगता है। मैं नादान बच्ची हूँ। माँ मेरी दूर है। रात हो जायगी तो मुझे राह नहीं सूझेगी।

"भय न करो, चिड़िया। तुम बहुत सुन्दर हो। मैं तुमको प्रेम करता हूँ।"

इतनेमें चिड़ियाको बोध हुआ कि जैसे एक कठोर स्पर्श उसके देहको छू गया। वह चीख देकर चिचियायी और एकदम उड़ी। नौकरके फैले हुए पंजेमें वह आकर भी नहीं आ सकी। तब वह उड़ती हुई एक साँस माँके पास गई और माँकी गोदीमें गिरकर सुबकने लगी—ओ माँ, ओ माँ!

माँने बच्चीको छातीसे चिपटाकर पूछा—क्या है मेरी बच्ची, क्या है?

पर बच्ची काँप-काँपकर माँकी छातीमें और चिपक गई। बोली कुछ नहीं, बस सुबकती रही—ओ माँ, ओ माँ!

बड़ी देरमें उसे ढारस बँधा और तब वह पलक मींच उस छातीमें ही चिपक सोई। जैसे अब पलक न खोलेगी।

रेलमें

मैं इलाहाबादसे आ रहा था। तीसरे तंक दर्जेमें ज्यादा भीड़ न थी। लेकिन रातके वक्त सोना सबको नहीं मिल सकता था। गाड़ी सबेरे दिल्ली पहुँचेगी, और मुझे रात इसीमें बिताना है।

दस बज गये, ग्यारह बज गये, बारह बज गये। सोनेकी जगहका सुभीता न मिला।

पास एक व्यक्ति दरीपर नई सुजनी बिछाये लेटा था। पीछे उसके नया-सा सस्ता ट्रंक और उससे लगा हुआ एक झालरदार छोटा तकिया था। मैंने देखा, बारह बज गये, वह एक मिनटको भी सोया नहीं। वह चैनके साथ देर तक लेटा भी नहीं रहता था। आरामकी जगह पानेपर भी उसकी आँखोंमें नींद नहीं उतरती थी।

इटावाका स्टेशन गया और वह बिस्तरपर सजग बैठ गया। उसने मुझसे पूछा—कहाँ जायँगे बाबूजी?

मैं किसी तरह उसे 'आप' नहीं कह सका। उसकी आकृतिमें वह बात न थी जो मुझसे 'आप' कहलाती।

मैंने जवाबमें पूछा—तुम कहाँ जाओगे?

"मैं?—आप टूंडला जानते हैं? फीरोजाबाद, और उसके एक स्टेशन बाद टूँडला। टूँडला जंक्शन है, मैं वहाँ उतरूँगा। आपको मालूम है, आगरावाली गाड़ी तैयार मिल जाती है क्या?"

मैंने कहा—नहीं, मुझे नहीं मालूम। और मैं प्रतीक्षा करने लगा कि वह अब आगे क्या कहता है। उसे अपने-से दूसरा कोई चाहिए था। वह अभी तक अपने आपमें समाया रहा, यह जैसे बहुत बात थी। हर स्टेशनके प्लेटफार्मपर उतरता और कभी यह ले कभी वह, अभी यहाँ जा कभी वहाँ, अब कुछ कर तब कुछ, इस प्रकार वह जाते हुए समयके साथ अपनेको लगाये रखता था।

"टूँडला तो आपने देखा होगा। कभी बस्तीमें गये हैं? बस्ती कुछ नहीं है। बस, स्टेशन ही स्टेशन है।...मैं टूँडला नहीं रहता। टूँडलाके पास एक

जगह है। पाँच मील होगी। बस, एक स्टेशन है। यों पैदल भी चले जाओ। रेल मिली-मिली, नहीं तो मैं पैदल ही जाऊँगा। सामान क्या है, थोड़ा-सा है। ...मैं कलकत्तेसे आ रहा हूँ।"

मुझे वह कुछ अनजँचता-सा आदमी मालूम हुआ। उसे अपनी ही धुन थी। वह जैसे आशा करता था कि मैं उसकी बातमें उतना ही घुल मिलूँगा जितना वह। मैंने उसे जाँचसे देखा। चमकती पालिशके नये सस्ते शू पहने था। पैरोंमें बढ़ियाँ मोजे थे। मूँछें किनारोंसे जैसे चलते वक्त ही कटवाई गई हों। पतलून थी और कोट था।—वे नफीस कटके थे, साफ थे। वे बनवाये नहीं गये, खरीदे गये होंगे। बार बार जेबसे बूँदीदार रेशमी रूमाल निकाल कर वह अपने जूतोंपर चढ़ी धूलको झाड़ लेता था। टाई थी और आँखोंमें सुरमा था।

"आप अच्छी तरह बैठ जाइए। इधर आ जाइए...अजी, बिस्तर आपका ही है। आप दोलिए, मेरी आँख लग जाय तो शिकोहाबाद पर जगा दीजिएगा। जरूर जगा दीजिएगा।...तीन बजे गाड़ी टूँडला पहुँचेगी,—क्यों साहब? पाँच होते होते गाँव पहुँच जाऊँगा? गाँव, मैंने कहा न टूँडलासे पाँच-सात मील है।...आप पूछते हैं, कलकत्ते कितने दिन रहा? मैं दो साल कलकत्ते रहा। तबसे अब आ रहा हूँ...क्या करता रहा? एक हमारी तरफका आदमी वहाँ एक सेठके यहाँ दरबान है। जाते ही तो पहले आँख मिची जाती थी,—कलकत्ता है कि इन्दरका अखाड़ा है। मोटर ही मोटर, गाड़ी ही गाड़ी, मकान ही मकान।...मैं कामकी तलाशमें गया था। वहाँ करोड़ों आदमी रहते हैं और सबको काम मिलता है। पर दो महीनेतक मुझे कुछ भी काम नहीं मिला। फिर क्या किया? फिर बारह रुपयेकी नौकरी लग गई। पाँच महीने तक नौकरी रही। बाद खोमचा लगाया। रहता उसी गाँवके चौकीदारके साथ था और चार आनेसे ज्यादा न खर्चता था।...आपको नींद आ रही है? सोना चाहें, लीजिए, सो जाइए।..."

मुझे बेशक नींद आ रही थी। अगर मैंने उसकी बातचीतके बीचमें कुछ 'हाँ' या 'ना' कहा तो समझिए सिर्फ अपनी नींद टालनेके लिए और अपनेको और उसको यह जतानेके लिए ही कहा कि मैं सो नहीं रहा हूँ। उसकी कथा चलती ही जाती थी और यदि उसका कुछ भाग मेरे चित्तपर बना रह गया है

तो उस अन्तके कारण जिसने उसकी सारी बातमें अर्थ ला दिया और रस भर दिया।

उसने बार बार कहा कि मैं शिकोहाबाद स्टेशन आनेपर उसे अवश्य जगा दूँ। बार बार कहा कि उसे टूँडला उतरना है, और कि टूँडला बड़ा स्टेशन है। और यह कि वहाँसे पाँच मील उसका गाँव है और पाँच बजे तक वह अपने घर पहुँच जायगा।

यह स्पष्ट था कि मुझे जगानेका मौका न आना था। नींद उसे आ ही नहीं सकती थी। कुछ उसके भीतरसे इतना उबल कर आ रहा था कि शऊरसे कुछ देर एक थान चुप बैठे रहना उसके बसका न था। वह बार बार अपने जूते साफ करता, नकटाई ठीक करता, जेबसे बार बार उसी जूतेवाले रूमालको निकालकर हाथ और मुँह पोंछता, ट्रंक खोलता और उसके भीतरके सामानको एतिहातके साथ तहाता। वह, जहाँ पहुँचना है पहुँचनेके लिए, बहुत व्यग्र मालूम होता था। वह लोभनीय दीखना चाहता था। वह जैसे 'रोमांस' पहने घर पहुँचना चाहता था।

घर! मुझे मालूम नहीं, घर उसका क्या है? क्या यह आदमी पिता है? अपने जूते, अपने चेहरे, अपने रूमाल, अपने सामानकी सज और धजके बारेमें जो इतना संभ्रमशील है, वह पिता है? तब क्या वह पति है? हो सकता है...

जब मैंने देखा कि नींद पाना मेरे लिए असम्भव है, तब हिम्मत करके पूछा—घरमें तुम्हारे कौन है?

"घरमें कौन है? मैं दो ढाई बरस बाद घर जा रहा हूँ, अब मालूम क्या, कौन है!"

मैंने कहा—कोई तो है, जिसके लिए यह ठाठ है।

वह झेंपा-सा। मानो वह अब मर्मस्थलपर छिदा है। मानो जो अब तक था वह इस स्थलको आवृत रखनेके लिए आवरण था। अथवा इस स्थल तक पहुँचने-के लिए भूमिकारूप था। जीके भीतरसे यही बात उमग कर आना चाहती थी, पर नहीं आने दी जा रही थी। इससे ऊपरी सतहकी बातें ही अब तक उखड़ उखड़ कर बाहरकी ओर बिखरती थीं।

उसने कहा, "बाबूजी, आप कैसी बात कहते हैं!" और वह हँसा, फिर बोला, "घरमें, हाँ, है। पर क्या आप समझते हैं, वह सुशीला है? उसे मेरी फिकर है? वह मेरी बाट देखती होगी? सच बात यह है,—वह बड़ी कलहकारिणी है। पैसेके लिए उसे मेरी चाहत है। मैं पहुँच रहा हूँ कि ले, पैसा ले। अब तो वह मुझे पूछेगी!"

मैंने कहा—क्या वह बहुत नवेली है?

"यह बात नहीं है बाबूजी! वह कुछ भी नहीं है। मैं उसे मानता हूँ, सो ही वह अपनेको समझने लगी है। मैं पूछना छोड़ दूँ तो उसे सब पता लग जाय।"

उसके शब्द बिना कठिनाईसे निकल रहे थे। वैसे ही जैसे मनकी ऊपरी बात साफ़ मुँहसे निकल जाती है। झूठ बात चिकनी होती है और मन उसे सरलतासे बाहर फेंकता है। सच बातको खींचकर निकालना होता है क्योंकि वह जीके भीतर बहुत गहरी गई होती है। शब्द मुँहसे जो निकल रहे हों, पर उसके चेहरेपर स्पष्ट लिखा था कि जो कह रहा है हलके मनसे कह रहा है। सत्य उससे विपरीत है। साफ था कि बात असल यह है कि वह उसका (घरवालीका?) बहुत मूल्य आँकता है। वहीं अपना केंद्र मानकर उसकी आकांक्षाएँ और उसकी योजनाएँ अपना पसारा फैलाती हैं।

मैंने कहा—देखो बाबू, वह कहीं और जाय तो तुम जाने दोगे?

वह एक दम आहत हो रुक गया। बोला—आप ऐसी बात कैसे कहते हैं? मैं कभी उसकी मरजीको रोकनेवाला हूँ? उसे काहेकी छुट्टी नहीं है? लेकिन, आप नहीं जानते उसने क्या क्या मेरे लिए झेला है! वह मेरी ब्याहता नहीं है, लेकिन जो मुसीबत उसने मेरे साथ मिलकर काटी है उसे याद करते अब डर होता है।

* * *

यह सब मुझे याद न रहता। लेकिन कुछ और भी हो गया। टूंडला स्टेशन-पर वह उतरा। उसने मुझसे बिदा माँगी और मैं साथ साथ प्लेटफार्मपर उतर कर आया और काफ़ी दूर तक उसके साथ गया। बिदा देकर लौटता हूँ कि राहमें मेरा ध्यान हठात् एक भीता-चकिता स्त्रीके मुखकी ओर चला गया। जैसे एकाएक उस स्त्रीका मुख विवर्ण हो उठा हो और वह उसके लिए अनुद्यत हो। उसके

साथ एक पुरुष था। दोनों साथ उसी आगरेवाली ट्रेनकी ओर जा रहे थे। मैं उनके पाससे निकलता हूँ कि देखा उस स्त्रीने उस पुरुषकी बाँह थामकर उसे रोक लिया है और मानो जानेसे इंकार कर रही है।

तभी झपटती-सी यह बातचीत मेरे कानोंमें पड़ी—

"क्या है! चल न।"

"नहीं जाऊँगी। तुम्हारे तो आँखें नहीं हैं। इसी गाड़ीसे वह जा रहा है।"

"कौन?"

"वही!"

"कहाँ जा रहा है?"

"गाँव जा रहा होगा। मैं अब नहीं जाऊँगी। लौट चलो।"

"डरती क्यों है? कोई तू उसकी ब्याहता है?"

"नहीं–नहीं–नहीं। मुझे वह मार डालेगा।"

"चल तो। देखूँ, कैसे आँख तक उठाता है। मैं—"

"मुझे नरकमें ले जाओ, पर गाँवमें नहीं जानेकी।"

मुझे ऐसा मालूम हुआ कि पुरुष इसपर राजी हुआ। किन्तु, मैं रुका नहीं, चलता चला आया। और इस घटनाकी पीठिका पाकर अपने उस साथीकी बातचीत मेरी यादमें उभर कर बैठ गई।

ग्रामोफ़ोनका रिकार्ड

वह अन्तमें पलङ्गपर उठ बैठी। अलस बैठी, अँगड़ाई ली और बालोंपर हाथ फेरने लगी। साड़ीका उसे पता न था और बाल अस्त-व्यस्त थे। उठी, उठकर बड़े आइनेके सामने गई, बाल ठीक किये, अपनेसे हरषाई, खिजलाई, फिर अँगड़ाई ली और लौट कर वहीं पलँगकी पट्टीपर आ बैठी।

दुपहरीका वक्त है, कमरा तीसरी मंजिलपर है। वहाँसे बाज़ार भी दीखता है जहाँ सदा चहल-पहल रहती है। कमरा सब तरहके आरामके सामानसे भरा है। इस कमरेमें बैठी बैठी वह एक घड़ी बिताती है और यह सोच कर उसे चैन पड़ता है कि 'चलो, यह बीती'। लेकिन फिर आगे आती हुई घड़ीकी ओर देखकर सोचती है, 'अब?'

रमणीकी अवस्था बीस-बाईससे अधिक नहीं है। पति एक मिलके सेक्रेटरी हैं। अच्छे सम्पन्न हैं, अच्छे शिक्षित, सभ्य, सुन्दर और स्नेहशील। एक दूसरी मिल खड़ी करनेकी बातें चल रही हैं, उसमें बहुत व्यस्त रहते हैं। कोई बाल-बच्चा नहीं है और यह रमणी ग्यारह-बारह बजते तक सब खाने-पीनेसे निबट कर यहाँ अपने इस कमरेमें आ जाती है और नहीं जानती, क्या करे क्या न करे।

सोना चाहती है और कभी नींद आ भी जाती है। आ जाती है तब तो ठीक; जब नींद नहीं आती तब वक्त सिरपर बेहद भारी हो जाता है। कोई सखी-सहेली आ जाय तो क्या बात; नहीं तो वह सामानपर सामानसे भरे इस कमरेमें अलस डोलती हुई सूनी घड़ियोंसे निबटनेको अकेली रह जाती है और त्रास पाती है। तब, न हुआ तो कभी हारमोनियम खोलकर कुछ देर उसपर उँगली चला लेती है, कभी ग्रामोफोनको गवाती है, कभी आलमारीसे उपन्यास खींच कर पढ़ने लगती है, नहीं तो किसी नौकर-चाकरको बुलाकर उसीसे इधर-उधरकी बातें करती है।

उसके मनमें प्रतीक्षा भरी बैठी रहती है। उस प्रतीक्षामें वह चिहुँक-चिहुँक पड़ती है, 'अब वह आ जायँ तो? अब वह आ जायँ तो?' यह नहीं कि

स्वामी दोपहरको कभी घर आ नहीं सकते। किन्तु, वह कामकाजी आदमी हैं और अनियमितता कहीं भी उन्हें पसन्द नहीं है। सब कामका समय होना चाहिए और तरीका होना चाहिए। प्रेमके लिए क्या व्यक्ति अनियन्त्रित बने?

वह आते तो कहते—कहो डियर, वह किताब तुमने पढ़ी? अच्छी लगी?

पत्नी कहती—हाँ, अच्छी लगी।

"हाँ, किताब वह अच्छी है। बस, ऐसे ही अँग्रेजी आ जायगी।...अच्छा बसन्तियाको बुलाओ तो, कहो तश्तरियाँ ले आवे।"

वह बसन्तियाको बुला देती और तश्तरियाँ आ जातीं। नाश्ता हो जाता और इसी तरह दस-पन्द्रह मिनट निकालकर मिस्टर कपूर कहते, 'अच्छा डियर, तो मुझे चलने दो।' और वह चले जाते।

उनके चले जानेपर वह उठती। जिस किताबको उन्होंने कहा होता, उसे खींचकर बिस्तरपर औंधी पटक देती, और कमरेमें इधर-उधर टहलती। अन्तमें पलँगपर गिरकर दो-चार पन्ने उस किताबके पढ़नेकी भी चेष्टा करती।

उसके मनको थिरता नहीं थी। वह अपनेको कहाँ बाँधे? उस मनके भीतर पढ़ाई भी है और प्रेम भी है। लेकिन वह मन अपनेको जैसे अस्वीकृत पाता है। किसने उसे ले लिया है! जिसके लिए उसका वह मन रहता है, तीनों लोकोंमें जो उसका अधीश्वर है, वह आदमी तो एकदम उसे सोनेमें और ऐश्वर्यमें डुबो देना चाहता है—वह उसे ऐसा प्यार करता है। पर इसके क्या वह योग्य है? क्या वह इतने संयत और कर्मठ प्रेमको झेल सकती है जो उसे आलिङ्गन न देकर आभूषण देता है? वह इसीसे अपनेको निराभरणा, निरलङ्कृता, पूजाकी सामग्रीकी भाँति, शुचि-उज्ज्वल और धूप-शिखाकी भाँति श्यामल रखती है कि वह प्रभुपर अर्पित हो और स्वीकृत हो। उसके मनमें अव्याहत, अलक्षित कुछ उठता रहता है, जो काला काला बादल-सा घुमड़ता है,—बरसता नहीं। जो एकीकृत हो राग नहीं बन पाता, न सङ्गीत, और जो बिखरा ही बिखरा लय हो जाता है। वह अपने कमरेके भीतर ही भीतर घूमती है, अपने हृदयके व्यथा-भारको लेकर कि क्या करे, क्या करे?

जब नदी जलवती होती है और लता फलवती, तब क्या उनमें उनके हृदयका समस्त रस भर कर उमड़ नहीं आता है? स्त्रीके माता होनेमें ही स्त्रीत्वकी क्या सम्पूर्ण कृतार्थता और संतृप्ति नहीं है? किसलिए स्त्री उमगती है? लजाती

है ? बढ़ती है ! और भागता हुआ पुरुष क्यों उसमें खिचा चला आता है ! क्या यही नहीं कि उसे विश्वात्मामें अपना स्वत्व-दान करना है; फल-दान करना है ?

जो हो, यह श्रीमती कपूर एक अनिर्दिष्ट अभावको भीतर लेकर दुपहरीकी घड़ियोंमें निरानन्द अपने कमरेमें सो-सो कर और उठ-उठकर सोचती है—वह क्या करे ! अरे, वह क्या करे ? उसे कुछ करना नहीं है। सब काम करती है, पर मानो वे उसके करणीय कर्म ही नहीं हैं। वे उसे तानिक भी नहीं भरते। उनको करके जैसे वह अपने उद्दिष्ट कर्मका तानिक भी अंश नहीं भर पाती। उद्दिष्ट कर्म ! इस विश्वकी योजनामें क्या कर्म उसका उद्दिष्ट है, क्या उससे इष्ट है ? किस अन्तिम फलके लिए वह यहाँ है ? वह यह कुछ नहीं जानती। लेकिन, भीतरका समस्त प्राण-रस जिसकी ओर कण्टकित हुआ उन्मुख बैठा है, क्या वही उसका परम कर्म नहीं है ! वही उसकी सिद्धि और वही उसके लिए धर्म नहीं है ! उससे किस अन्य परम अर्थकी अपेक्षा हो सकती है ?

किन्तु वह इस अपनी परमाकांक्षा, परम सार्थकता, परम सफलताको कैसे सम्पन्न पाये ! अरे कैसे ! वह क्या करे ! कोई बताओ, वह क्या करे !

२

उसे एक रिकार्ड बहुत ही मन भा गया है। दूसरेके यहाँ वह रिकार्ड उसने पहले-पहल बजते हुए सुना था। वह जैसे उसके मनकी बातको छीन कर ही बना हो। वही वह बजाती है, वही सुनती है, वही गुनगुनाती है। रिकार्ड मशीनपर बैठ जाता है और वह आँखें मूँद लेती है और रिकार्ड घूम-घूमकर गाना शुरू करता है—

> सैयाँ तोरी गोदीमें गेंदा बन जाऊँगी। सैयाँ०
> जब मेरे सैयाँको प्यास लगेगी,
> गङ्गा-जमना तिरबेनी बन जाऊँगी। सैयाँ०
> जब मेरे सैयाँको भूख लगेगी,
> पूरी कचौरी जलेबी बन जाऊँगी। सैयाँ०

वह आँख बन्द किये इस रागके पङ्खोंपर बैठी, हिंदोलेमें झूलती, निराली, उस देशमें पहुँच जाती है, जहाँ सोना और सामान नहीं है और वह बस सैयाँकी गोदमें फूली-फूली गेंदा बनी पड़ी है, दुब-मुबकर बस रसभरी जलेबी-सी सैयाँकी

आँखोंके आगे बिछी है। हाँ, वह क्यों नहीं सैयाँकी प्यासके लिए तिरबेनी है? वह सैयाँको अपनी त्रिवेणीकी धारामें खींचकर सबका सब डुबो लेगी, पूरी तरह अपनेमें ले लेगी।...और गीत चलता ही जाता है—

सैयाँ तोरी गोदीमें०
जब मेरे सैयाँको निंदिया लगेगी,
तोशक, तकिया और गद्दा बन जाऊँगी।

अबके सैयाँ आये तो वह कहेगी, देखो, तुम अच्छी तरह गोदी बनाकर बैठो। मैं अभी तुम्हारी गोदीमें गेंदा बनकर दिखाती हूँ। देखो, ऐसे, और ऐसे मैं गेंदा बन जाऊँगी। और मैं त्रिवेणी भी बनूँगी, और मैं जलेबी भी बनूँगी। सैयाँ, मैं तुम्हारे लिए सभी कुछ बन जाऊँगी। तुम कुछ मत करो, बस देखते ही रहो मैं कैसे कैसे क्या क्या बनती हूँ।

इसी तरहके भावमें मग्न थी, तभी उसी ओर आते हुए स्वामीके पैरोंकी आहट उसने पाई। झट ग्रामोफोन बन्द किया और झपटकर चादर ले वह पलँगपर आ लेटी। लेटकर धीमे धीमे खर्राटे लेने लगी। सोचती जाती थी—मेरी चादर हटा कर वह कहेंगे—ओ बिजी सोती हो?

मैं करवट लेकर कहूँगी—ऊँ—ऊँ—ऊँ।

वह कहेंगे—अजी विजया महारानी, उठो।

मैं कहूँगी—हटो जी, हमें मत छेड़ो, हाँ—तो। हमें नींद आ रही है।

वह उठायेंगे—मैं नहीं उठूँगी, नहीं उठूँगी, नहीं उठूँगी।

मिस्टर कपूर कमरेमें आ गये। विजयाके कान सुनते रहे—आ गये, आ गये। वे कान चौकन्ने हो रहे कि देखते रहो, वह क्या करते हैं? और वह खर्राटे भी भर रही थी!

उन्होंने आकर आलमारीकी चाबी टटोली। यहाँ देखी, वहाँ देखी। नहीं मिली तब तकियेके नीचे देखना चाहा। तकियेके नीचे हाथ डाला कि विजयाने करवट ली, किया—'ऊँ—ऊँ—ऊँ।' अर्थात्—'हाँ, मैं सोती हूँ। लेकिन अजी, तुम बेखटके मुझे जगाकर देखो। सच, मुझे जगा लो।'

तकियेके नीचेसे उन्होंने जल्दीसे हाथ खींच लिया और चिन्ता की कि विजयाकी नींद न उचट जाय। उसके बाद फिर चाबी इधर-उधर देखी। इसीमें एक तश्तरी झन्नसे फर्शपर गिरी।

विजयाने नींदसे चौंककर कहा—क्या है ?

"ओ डियर, कोई बात नहीं। माफ करना। मैं तुम्हें जगाना नहीं चाहता था। आलमारीकी चाबी कहाँ है ?"

"हमें नहीं मालूम। हाँ—तो, दुपहरीमें भी हमें चैन नहीं है।..." कहा और विजया मुँह फेरकर और उसपर चादर लेकर फिर सो गई !

इस समय उसका मन रोनेको आ गया। उसे बिल्कुल पता न रहा कि यही सैयाँ हैं, जिनकी गोदमें वह गेंदा भी बन ले, जलेबी भी बन ले या और जो चाहे बन ले। समस्त विश्वमें इस एक आदमीहीकी गोदमें उसके लिए सब बननेकी छुट्टी है। वह सोचने लगी कि यह आदमी क्यों नहीं अपना काम झटपट खतम करके यहाँसे दूर हो जाता !

किन्तु चाबीका गुच्छा जल्दी नहीं मिला और दो-एक मिनट होनेपर विजयाको फिर हठात् धीमे धीमे खर्राटे भरना शुरू कर देना पड़ा।

अन्तमें चाबी मिल गई और आलमारीमेंसे चैक-बुक निकाल जेबमें डालकर मि० कपूर चलनेको हुए। उस समय वह एक क्षण रुके और सोचने लगे—इसकी नींदको मैंने व्यर्थ ही तोड़ा। अब क्या मैं उसके लिए इससे क्षमाकी प्रार्थना न करता चलूँ।

विजयाको पता था, वह सिरहाने ठिठके खड़े हैं। उसने मानो गहरी नींदमें करवट ली। इससे अंगके काफ़ी भागपरसे चादर बेखबर हट गई।

'क्या विजयाकी असावधानीमें उसका अंगदर्शन नीतिगत है ? नहीं—नहीं।' उस समय इस प्रकार सोचते हुए मिस्टर कपूर दबे मन, दबे पाँव, कि आहट न हो, बाहर चले गये।

वह गये। विजया उठी और नीचे पैर लटकाकर पलँगकी पट्टीपर बैठ गई। हाथ देकर उसने बाल सम्हाले। अङ्गड़ाई ली और आइनेके सामने खड़ी होकर अपनेको देखने लगी। देखती रही। उसने कोसा कि क्यों उसका सौन्दर्य उस परसे अबतक तनिक ढलकर नहीं गया है। यह कम्बख्त किस निमित्त वहाँ वैसाका वैसा ही अड़ा खड़ा है, जब कि उसका कोई हेतु नहीं है, उसकी माँग नहीं है। उसने चाहा कि वह कुछ अपरूप क्यों न हुई ! विकृताङ्ग क्यों न हुई ! तब वह पा तो सकती कि वह क्यों अस्वीकृता है। कुछ होता तो उसके पास जो स्वयं सब दोषका भागी बनकर उसे चैनसे रखता। अब चारों ओरसे प्रशंसित इस रूपको लेकर क्या वह वञ्चिता, अभागिनी, अपने अभाग्यका दोष अपने पतिपर डाले ?

तभी वह सहसा मुड़कर निश्चयपूर्वक कहती है—' नहीं, नहीं, नहीं...।' और गुनगुनाती है—" सैयाँकी गोदीमें...। "

३

समय अलसाया जा रहा था। वह घूमी, टहली, बालोंमें कङ्घी की, साड़ी बदली, किताब पढ़ी, यह किया, वह किया और फिर सिरपर समयको वैसा ही भरा खड़ा पाकर ग्रामोफ़ोनके पास आ बैठी। ग्रामोफ़ोनने गाना आरम्भ किया—

" सैयाँ तोरी गोदीमें...।
जब मोरे सैयाँको... "

उसकी आँख मुँद गई और गायन एक स्वर चढ़ा—

" ...अरे भूल लगेगी, बर्फी पेड़ा,
गुलाबजामुन बन जाऊँगी।
सैयाँ तोरी... "

इस गीतमें उसका आधार है, इसमें बल है। इसके स्वरोंमें जैसे वह चाशनी-सी घुल जाती है। उसके भीतरकी रिक्ततामें यह गीत आकूल आप्लावन ला देता है और हृदयके किनारेतक डूबने डूबनेको हो जाते हैं। तब मानो दुःखका बोध लीन हो जाता है और सुखकी चाहके लिए भी अवकाश नहीं रहता। यह मिठास और कड़वाहटके स्वादसे एकदम भिन्न प्रकारकी निमग्नता वह अपने उच्छलित प्रेमके बलसे अपने लिए सृष्ट कर लेती है और आप ही उसमें डूबती उतराती है।

फ़ोनकी चूड़ी नाच-नाचकर कह रही थी—

गेंदा बन जाऊँगी, सैयाँकी गोदीमें...।

बैरिस्टर मनमोहन इस अक्षुण्ण, अतरङ्गित, दीपशिखापर हैरान थे। वह शलभ न थे; पर झुलस उनको भी लगती थी। यह अपने ही स्नेहको प्रति क्षण पान करती हुई प्रदीप-शिखाकी भाँति प्रकाश बिखेरती हुई निष्कम्प, ऊर्जस्वित, अरक्षणीया, अकेली खड़ी है, इसपर उन्हें विस्मय था। मनकी पीड़ा भी थी। यह लौ न वक्र होती है न व्यर्थ होती है। अपने आपमें धन्य नहीं है, जल रही है, यह भी उसके प्रदीप्त मुखपर कहीं प्रकट नहीं होता। बैरिस्टर मनमोहन सद्विचारशील और सद्भावनाशील और सहृदय व्यक्ति हैं। वह किसीके प्रति अप्रस्तुत नहीं हैं। किन्तु—

किन्तु यह नारी, यह विजया, मनमोहनकी सद्भावनाको क्या कभी निमन्त्रण दे सकी है ? क्या कभी इस नारीने अपने अत्यन्त भीतरी क्षतको उसकी सहानुभूतिका तनिक भी स्पर्श, तनिक भी सेंक लगने दिया है ? नहीं, वह अपने व्रणको भीतर ही भीतर अतिशय सुरक्षित, सेव्य, अति गोपनीय और अस्पृश्य बनाये है। इसलिए विजयाको कोई अड़चन नहीं है कि मनमोहन उसका मित्र हो, वह आये-जाये, मिले-जुले और वे दोनों हँसें-बोलें।

मनमोहनने सामने जीवनमें पहली बार यह खुलेपनकी अनुल्लङ्घनीय बाधा पाई है। जहाँ कुछ छिपाव हो, दुराव हो, आँख जहाँ जरा नीचे भी होती हो, वहाँ मनमोहन निःशङ्क है। जहाँ आरम्भसे ही निःशङ्कित व्यवहार है और हँसीमें निर्व्याज उल्लास, और जहाँ सङ्कोचका निरा अभाव है, वहाँ मनमोहन जैसे निरस्त्र है। वहाँ मनमोहनको ढानेके लिए जैसे कोई प्रतिबन्ध ही नहीं है। और भीतरसे वासना और प्रेरणाको उमगा कर लानेके लिए जैसे मनमोहनके लिए बाहर किसी तरहकी चोट, कोई तिनका, कोई बहाना ही नहीं पाता है।

मनमोहनका इस घरमें खुला आना-जाना है। और सच ही विजयाकी तबीयत भी उससे कम नहीं बहलती। विजयाके भीतर एक तरहकी इच्छा सुलगी-सी भी रहती है कि मनमोहन आये। वह आदमीको देवता नहीं सोचती, न अपनेको देवी समझती है। मनमोहनके बारेमें भी उसकी आँखें झँपी नहीं हैं। लेकिन अपनेको बिना खोये जो वह पाती है उस पानेका रस उसे अच्छा ही लगता है। मनमोहनकी वृत्तिकी ओरसे पूर्णतया विश्वस्त न होते हुए भी उसको प्रीतिकर लगता है, कि वह आये। और उसके आते रहनेके लिए विजया उसकी कृतज्ञ ही है।

चूड़ी चल रही थी— 'सैयाँकी गोदीमें...गेंदा बन जाऊँगी...।'

विजया मौन, मूक, निष्पन्द, घुली-सी जाती हुई बैठी थी।

मनमोहनके आनेका उसे पता चला। उसकी आँख आधी खुली और अनायास उसने कहा—आओ।

मनमोहन बेलाग आकर आराम-कुरसीपर बैठ गया। उसने कभी पहले ये आँखें ऐसी आधी खुली न देखी थीं। उसका मन एक साथ ही जैसे फुहारके नीचे आकर भींज-सा उठा। अनाहूत आकांक्षाएँ जैसे आप ही आप जग आईं और जैसे क्षणों-क्षणोंमें बिना बीजके उग आकर एकदम पल्लवित और पुष्पित हो

झूमीं। और मानो उन्हें अब अधिकारतः फलकी भी माँग हो आई। जिनका स्वप्नमें भी उसने अङ्गीकरण न किया था, वे ही आकांक्षाएँ एकदम पूर्ण यौवनमें हुलसित मनमोहनके भीतर लहलहा आईं।

उसने कहा—भाभी, बड़ा अच्छा रिकार्ड है।

विजया निर्बोध मुस्कराई, जैसे कहा—है न अच्छा!

जिसकी गोदमें उसे गङ्गा, जमना, त्रिवेणी होकर बहना है वही तो है, उससे शेष होकर और क्या है! उसे जैसे लग रहा है—मनुष्य बस वही है। संसार वही है। आकांक्ष्य वही है। और आकांक्ष्य जो है, 'सैयाँ' छोड़ वह और क्या हो सकता है! उसे सब कुछ अपने सैयाँमय-सा ही लग रहा है।

मनमोहनने अपनी कुर्सी आगे बढ़ाकर धीरसे अपने एक हाथमें उसका एक हाथ थाम लिया। विजयाने कृतज्ञ भावसे उसकी ओर देखा और मुग्ध कानोंसे सुना—

"सैयाँ तोरी गोदीमें...।"

मनमोहनके शरीरमें सिहरनकी लहर आई, शरीरमें काँटे उठने लगे। उसने कहा, 'भाभी, भाभी!' और अपने हाथमें पड़े हुए इच्छाशून्य कोमल हाथको ज़ोरसे दबाया।

विजया उसी द्रवीभूत भावसे भरी, अधखुली और अधमुँदी आँखोंसे मनमोहनको बस देखकर रह गई। मानो वह उसे और अपनेको कहना चाह रही है, 'सैयाँकी गोदीमें, देखो, मैं इस भाँति गेंदा बन जाऊँगी।'

मनमोहनका वश अपने परसे उठता गया। उसने भर्राए कण्ठसे कहा, 'भाभी, भाभी!' और एकदम उठकर पलङ्गपर बैठकर भाभीको उसने अङ्कमें भर लिया। बोला, 'ओ मेरी पगली रानी, भाभी!'

विजयाने पाया—सैयाँकी गोदीमें पड़कर पँखुरियोंसे सजे गेंदे और रससे भरी जलेबी, और त्रिवेणी, और गद्दा-तोशक, सबके बननेका समय उसका अब आया है! वह नितान्त अवश उसकी गोदमें बिखरी-बिखरी हो पड़ी।

वहाँ उस गोदमें लेटी वह पानी-पानी होकर बह जायगी। मनमोहनने उसे बटोरकर अत्यन्त मोहाविष्ट हो ज़ोरसे उसका चुम्बन लिया। लिया कि उसी क्षण पास रखी मेज़परसे टाइमपीस झनूनन करती हुई नीचे आ पड़ी। यह आवाज़ मोहपटलको चीरती हुई विजयाके भीतर तक पहुँच गई। वह चौंकी, उठी और,—

—भौंचक रह गई! सुन्न, वह खड़ीकी खड़ी ही रही। उसने मनमोहनको देखा,—मानो उस देखनेमें दृष्टि न थी। मनमोहन उसीकी तरफ़ देख रहा था।

विजयाके मुँहसे निकला—तुम! तुम!!

मनमोहनके चेहरेपर, फक, विस्मय लिख गया।

विजया आगे कुछ न कह सकी, माथा पकड़कर एकदम धमसे फ़र्शपर बैठ गई और धरती देखती हुई रोने लगी।

मनमोहनने पास आकर, बैठकर, कन्धेपर हाथ रखकर कहा—भाभी! विजया! क्या बात है?

अपने हाथोंसे उसे अलग हटाते हुए विजयाने कहा—तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, तुम जाओ। चले जाओ, अभी चले जाओ।

मनमोहनने कहा—क्या है?

"हाथ जोड़ती हूँ, हा-हा खाती हूँ, तुम अभी चले जाओ। देखो तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ।" और उसने मनमोहनके पैरोंकी ओर अपने हाथ बढ़ाये।

मनमोहन खो गया। उसको कुछ भी सूझा नहीं। वह पत्थरकी मूरत बना वहाँ खड़ा ही रह गया। उसने सुना—

"चले जाओ। नहीं तो पटककर मैं अपना सिर यहीं फोड़ डालूँगी।"

सुनकर मनमोहनका अपनेपर कुछ भी वश न रहा। मुँह झुकाए वह चुपचाप चला गया।

४

जब शामको स्वामी आये, विजयाने गुस्सेसे कहा—नहीं, यह झूठ है कि तुम मुझे प्रेम करते हो। तुम मुझे प्रेम नहीं करते। मुझे अपने घर भेज दो। मैं वहीं रहूँगी, वहीं रहूँगी।

स्वामीने कहा—तो चली जाना, पर ऐसी क्या बात हुई?

"नहीं, मुझे तुम्हारा प्रेम नहीं चाहिए। मैं तुमसे नहीं बोलूँगी। मैं अँग्रेजी नहीं जानती इसीसे तो—। मैंने तुम्हें देख लिया।"

आशय, कि विजया अपने सैयाँको छोड़ कुछ दिनके लिए चली ही गई। और पति तर्क-पूर्वक भली भाँति कायल हुए बिना न रह सके कि अन्याय उन्हींका है और वह पात्र हैं कि विजया उनसे न बोले।

पानवाला

चाँदनी चौककी एक दूकानपर बैठा कुछ खरीद कर रहा था कि आवाज़ सुन पड़ी—प्वाइन बिनारिस !

आवाज़ सुरीली थी, उसमें रस था। मैंने मुड़कर देखा। देखता हूँ कि एक मोटरसे एक भद्र पुरुष उतरे हैं, तीन महिलाएँ उनके साथ हैं, जिनमें दो नवीन हैं, एक प्रौढ़ हैं, और एक पानवाला हाथमें पानोंकी थाली लेकर उनके पास पहुँचकर कह रहा है ' आला पाइन, बिनार्सी पाइन !'

वे लोग तनिक इस आतिथ्य-भेंटपर रुके। क्षणभर रहकर उन नवीनाओंको हँसी छूट आई और आपसमें हँसती हँसती वे दोनों आगे बढ़ गईं। प्रौढ़वया महिला और वयस्क पुरुष भी आगे चल दिये।

पानवाला मुड़कर फिर फूटपाथपर आ गया और डोलने लगा। उसी अदाकी आवाज़ देता जाता था—प्वाइन बिनारिस आ'ला पाइन, बिनार्सी पाइन।

पैसे देकर मैं पान नहीं खाता। पर पान खानेका सवाल नहीं था। मैंने कहा—ओ बनारसी पान।

सुनकर तपाकसे वह मेरे सामने आगया।—आ'ला पाइन, बिनार्सी पाइन!'

मैंने देखा, पानवाला खूब है। बढ़िया बारीक गाढ़ेका सफेद कुर्ता पहने है। उससे मेल खाती हुई धोती। पैरोंमें नफीस हल्के पंजाबी जूते हैं। टोपी करीनेके साथ ऐन कोणपर सिरपर रखी है, जिसमेंसे दाईं ओर टेढ़े-मेढ़े कढ़े बाल कुछ दिखनेके लिए निकले हुए हैं, मूँछे बारीक बारीक कटी हैं, हजामत बहुत साफ है। आँखोंमें सुर्मा है, ओठोंपर ढँगकी पानकी गहरी लाली है। हाथमें जो थाली है, चाँदीकी है। उसपर चाँदीके वर्क लगे पान सलीकेसे चिने हैं। कुछ बहुत बढ़िया शीशियाँ कतारमें रखी हैं। थालीके बीचों बीच ऊपर एक बिजलीकी बत्ती लगा रखी है, वह चाँदीके कमानीदार तारोंसे थालीपर टिकी रहती है।

यह सब देखकर हँसनेको जी चाहा।

मैंने कहा—देना एक पैसेका पान।

उसने चाँदीकी एक सलाई उठाई, पहले एक शीशीमें डाली फिर दूसरीमें, उसे पानके एक बीड़ेपर फेरा, और उसी सलाईसे उस बीड़ेको उठाकर पेश कर दिया।

मैंने कहा—यह क्या किया?

उसने कहा—हुजूर इत्र है। मुलाहिज़ा हो।

मैंने बीड़ा लेकर मुँहमें दे लिया। पान नहीं खाता तो क्या, खाना जानता हूँ। पान उम्दा था। मेरे ख्यालमें पानवालेके हक़में यह नफेका सौदा नहीं है। क्या यह सजधज इस पानके सौदेके ऊपर वह रख सकता है?

मैंने कहा—अच्छा एक बीड़ा और लगा।

उसने उसी भाँति एक बीड़ा लगाकर सामने पेश कर दिया।

कुछ बच्चे आसपास जमा हो गये थे। पानवाला ठैर ठैर कर कहता रहा—'आ'ला पाइन, विनार्सी पाइन!'

मैंने दो पैसे देते हुए कहा—दिनमें कितना कर लेते हो?

बोला—जी, आपकी मेहरबानीसे गुजर हो जाती है।

मैंने कहा—अच्छा, हम रोज़ तुम्हारा पान खाया करेंगे। अच्छी लज्ज़त देता है।

मैं हँसता जाता था।

उसके ओठोंके बक्रमें जैसे धन्यवाद था। वह भी मुस्कराता-सा था।

उसने एक बार कहा, 'प्वाइन बिनारिस' और जब देखा कि कोई गाहक नहीं है, आगे बढ़ लिया।

ख़रीदके बारेमें ज़रा शिथिल होकर मैं इस पानवालेके तमाशेको देखने लगा। जिधरसे जाता था, एक बार तो राह चलता आदमी भी आवाज़ सुनकर इसे देखने लग जाता था। मैंने देखा, जहाँ किसी अच्छे कपड़ेवाली स्त्रीको देखता है वहीं पहुँचकर और भी अदासे कहने लगता है, 'प्वाइन, आ'ला प्वाइन!' मोटरमें यदि एक भी स्त्री हो उसके पास पहुँच जायगा, कहेगा—'बिनारसी प्वाइन!'

मुझे बड़ी हँसी आई। बहुत बुरा भी लगा। मनमें सोचा, बड़ा शरारती आदमी है। फिर ठैर कर सोचा, जान पड़ता है, बड़ा भूखा है। नहीं तो निर्लज्ज होकर ऐसा न करता फिरता।

मेरे देखते देखते फिर वह इधर उधर न जाने किधर ओझल हो गया। मैं भी घर चला आया।

२

मैं रईस नहीं हूँ। पर जँचाव बुरा नहीं रखता। ऐसा भी क्यों रहा जाय कि लक्ष्मी आए भी तो डरके भाग जाय। लक्ष्मीपति नहीं हूँ इसीसे ऐसा रहना पड़ता है कि लक्ष्मी आए तो लुभाकर मुझे पसन्द कर ले। लक्ष्मीका पति हो जानेपर दूल्हा बने फिरनेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी।

शायद इसीसे हो कि जब चाँदनी चौकमें पहुँचता हूँ तभी पानवाला मुझे पा लेता है। जाने मेरी ताक लगाता रहता है क्या। पाँच-सात पान उसके क्या लिये कि समझता है रोज ही पैसा बर्बाद करूँगा। लेकिन जब वह सामने आकर सलाईसे पान उठाकर मुस्कराता हुआ कहता है, 'लीजिए बाबूजी,' तब इंकार नहीं किया जाता। यह पैसा पानका नहीं, मैं तमाशेका देता हूँ। मुझे इस पानवालेका बड़ा तमाशा मालूम होता है। कभी मैं उसमें अन्तर नहीं देखता। हर रोज वैसा ही झक साफ कुरता रहता है, किसी भी दिन ज़रा भी मैला नहीं रहता; उतनी ही साफ उसकी हजामत रहती है, और ठीक उतना ही बारीक कटी हुई किनारा-साफ मूँछें। और खूब चमचमाती चाँदीकी थाली।

मैंने उसका सदा यही हिसाब देखा। इक्का-दुक्का सुपरिधानित स्त्री कहीं भी देख पाएगा तो पहुँच जायगा और मुस्कराकर पान पेश करेगा। मुझे यह बुरा लगता है। लेकिन जब मेरे सामने आकर वह मुस्कराता है तो उसमें दोष मुझसे नहीं निकाला जाता। जैसे उस समय वह मुसकराहट मुझे बुरी नहीं मालूम होती।

एक दिन मेरे साथ मेरी पत्नी, एक बहिन और विवाह-योग्य वयकी एक मेरी भतीजी, ये सब थीं। चाँदनी चौकमें उन्हें कुछ सामान लेना था। एक दुकान दो दुकान, चार दुकान,—दुकानें देखते देखते मैं थक गया। पर इन लोगोंको कोई चीज़ ही पसन्द नहीं आई। दुकानदार यह दिखाए, वह दिखाए, भाँत-भाँतकी चीज़ोंका ढेरका ढेर सामने रख दे, पर वे सबकी सब खराब निकलें; किसीका रंग गहरा हो जाय, किसीका ज्यादा हल्का; इसमें यह हो जाय तो उसमें कुछ; और चीज़ जँचनेके नज़दीक आए तो कीमत उसकी अधिक निकल पड़े। मैंने कहा—तुम लोग घूमकर देख लो। मैं उस खद्दरभण्डारपर मिलूँगा। वहीं आ जाना।

उन सबने इसे प्रसन्नतासे स्वीकार किया। बला टली, और मैं खद्दरभंडारपर अपने मित्रके पास आ बैठा।

एक घंटा हो गया, दो घंटे। पानवाला आकर लौट गया। वे आई नहीं! दिन-भर बैठे गप थोड़े ही लगाई जा सकती है। इतवार है तो क्या, घरपर और भी काम हैं। यहाँ जैसे अनगिनत घंटे मैं यों ही उनकी प्रतीक्षामें बैठा रहूँगा! उकता कर मैं उनकी तलाशमें चला। पर चलता ही हूँ कि दीखा, वे तो वे आ रहीं हैं। दूसरी ओरके फुटपाथपर हैं, अब इधर आनेके लिए मुड़ना चाहती हैं। सामानके छोटे बंडल सबके पास बटे हुए हैं। चलो, झगड़ा मिटा, इनकी सौदागरी तो ख़तम हुई। वे मुड़कर चाँदनी चौककी बीच सड़कपर आईं नहीं, कि देखता हूँ पानवाला कहींसे आकर उनके सामने जा पहुँचा है। वह रुक गई हैं।

मेरे कानमें जैसे आवाज़ आई, "प्वाइन बिनारिस। ब...आइला प्वाइन बिनार्सी प्वाइन!" मैंने गोया यह भी देखा कि वह उन अपनी सुर्मा लगी आँखोंको ज़रा ज़रा झपाकर ओठोंके किनारोंसे हँस रहा है। देखता हूँ कि सलाईसे बीड़ा उठाकर उसने मेरी भतीजीको दिया है, और उसने लिया है।

मैं तैश खाता हुआ चला। पास पहुँचकर मानो उस सब मंडलीको चेतावनी देते हुए बोला—क्या है!

पानवाला उसी तरह मानो मुग्ध प्रेमसे मुस्कराता हुआ मेरी ओर मुड़ा। मैंने कहा—क्या है!

मेरी बहिनने कहा—एक पान हमें भी दो। लगभग साथ ही मेरी पत्नीने कहा—एक मुझे भी देना।

भतीजीने पानकी पहली पीक थूकते हुए कहा—चाचाजी, तुम भी ले लो एक, बड़ा अच्छा है। एक और लगा देना, भई।

मैंने कहा—नहीं; मुझे नहीं लेना...

पानवालेने पान तयार करते करते मेरा जवाब सुनकर मेरी ओर देखा, मानो वह मेरी अनुदारतापर विस्मित है।

मैंने कहा—और तुम लोगोंने इतनी देर लगा दी! घर नहीं चलना है क्या! ले लाकर खतम करो, जल्दी चलो।

बहिनने इत्र लगते हुए पानोंकी तरफ देखते हुए कहा—चलते हैं—

मैंने कहा—चलती क्या हो, चलो।

उन दोनोंके पान लेनेपर मैं फिर नहीं ठेरा। सीधा चलकर घर आया।

मैंने तै कर लिया, मैं पानवालेसे बिल्कुल संबंध नहीं रक्खूँगा। कभी उसका पान नहीं खाऊँगा। कम्बख्त, इतनी हिम्मत रखता है! भूखा है, तो इस तरह नदीदी आँख कहीं कहीं डालता फिरेगा। और इन्हें भी तो देखो, इन्हें उसका पान बड़ा स्वादिष्ट लगता है!

शांत घंटोंमें जब सोचता हूँ तो इसमें तो मुझे संदेह नहीं रह जाता कि वह बिचारा भूखा इतना है कि भोज्य सामने देखकर अपनी दृष्टिको थामा उससे नहीं जाता। वह क्या करे? भूख असह्य हो जायगी तो भूखा चुराए बिना कैसे रहेगा? और बाहर भूख मिटानेके सामान न करके जो सरकार जेलखाने खड़े करेगी, उनके अंदर ले जाकर सही, भूखेकी भूख तो मिटानी ही पड़ेगी। नहीं तो भूखेकी भूख उसीको खा जायगी।

लेकिन, जब अपने संबंधकी अपेक्षासे उस पानवालेकी निगाहकी याद आती है, तो जीमें आता है उसकी आँख फूट जाय।

अबके चाँदनी चौकमें गया तो वह पानवाला उस तरह बिन-माँगे पान उठाकर सामने न पेश कर सका। उसने पूछा—पान दूँ बाबूजी?

मैंने उसकी तरफ देखकर भर्त्सनाके स्वरमें कहा—नहीं।

वह मुस्कराता न रह सका। पर आँखें मानो अब भी उसकी रससे भरी रहीं। उसने कहा—बाबूजी, आज बिना पैसेका ले लीजिए।

मैंने गुस्सेसे कहा—नहीं लेते। कह दिया एक बार। अब तुम जाते क्यों नहीं?

उसने कहा—बाबूजी, नाराज़ हो गये?

मैंने कहा—नाराज़ हो गया नहीं हो गया, मैं पान नहीं लेता। बस, तुम जाओ!

वह चला गया।

३

जिन ऋषियोंके क्रुद्ध दृष्टि-निक्षेपसे आग लग जाती थी, वह जाने कैसे होते होंगे। मेरा क्रोध तो उस पानवालेको शरारतसे बाज़ नहीं ला सका।

उस दिन मेरे तनमें आग लग गई जब मैंने उसे अपने घरके दर्वाजेपर देखा। ऊपरसे मेरी भतीजी झाँक रही थी, आसपास भी तमाशा देखने शौकीन खड़े हो गये थे, और वह पान तैयार कर रहा था। मेरे देखते देखते उसने तैयार करके तीन-चार बीड़े एक पास खड़े लड़केको दिये और कहा—बेटा, इन्हें ऊपर दे आओ।

मैं जल्दी जल्दी घरमें प्रविष्ट हो गया। इस पानवालेने जो मुझे देख प्रसन्न होकर कहा, 'बाबूजी आ गये', सो मैंने जैसे सुना नहीं। उस पान लिये हुए लड़केसे पहले ही धम-धम ऊपर पहुँचकर पुष्पाको बुलाकर कहा—पुष्पा, यह क्या है! यह यहाँ क्यों आया है? किसने आने दिया है और किसने पान लिये हैं?

पुष्पाने कहा—यह तो बहुत देरका इस गलीमें आया है। यहाँसे दो-तीन बार घूम गया है। आख़िर, हारकर, बुआने कहा, चार बीड़े पान ले ले, बिचारा बड़ी देरसे हैरान हो रहा है।

मैं अब क्या करूँ? मैंने कहा—नहीं, उसकी यहाँ कुछ ज़रूरत नहीं है।

पुष्पाने कहा—वह आपको पूछता था। आपके ही वास्ते, कहता था, इतने वक्तसे घूम रहा है।

मैंने कहा—मेरे लिए घूमता था! बदमाश बातें बनाता है।

लेकिन कुछ देरमें मैं नीचे बैठकमें पहुँच गया। सोचा, देखूँ, बदमाश मुझसे किस कामका बहाना बनाता है।

मैंने उसे बुलाया। वह आकर मेरे सामने खड़ा हो गया। मैंने कहा—तुम्हें मुझसे कुछ काम है? क्या काम है?

उसने कहा—पान ले लीजिए हुजूर।

मैंने कहा—पान नहीं लूँगा, काम बताओ।

उसने कहा—हुजूर, आपका घर देखने आया था।

मैंने कहा—घर देखने आया था? नहीं, कोई काम नहीं है घर देखनेका। अब कभी इधर मत आना, समझे।

उसने कहा—गलती हो गई हो तो माफ कर दें। मुझपर नाराज़ न रहें।

मैंने कहा—नहीं, तुम यहाँ मत आना।

वह इसी प्रकार कहता रहा कि मुझे उसपर नाराज़ न होना चाहिए। जो

माफ़ कर देना चाहिए। वह मेरे पैरों पड़ सकता है, और घर-भरके पैरोंमें पड़ सकता है।

मैं जानता था, यह सब चालाकी है। जानता था कि अपना क्रोध मुझे कम नहीं करना चाहिए, आदमी वह बहुत ही बदमाश है। लेकिन क्रोध उस तरह प्रचण्ड रह सका ही नहीं। जाने क्या था उसकी मुद्रामें जो द्रव था और द्रावक था। उन सुर्मे लगी डोरीली, शराबीकी-सी आँखोंमें ही जैसे कुछ ऐसी दीनताका रस था जो उठती उठती ग्लानिको दबाकर उसे कुछ सकरुण बना देता था। मानो ऊपर जो फैलाकर कामुक बेहयाई बिछाई हुई है उसके भीतर ढका हुआ लजीला और रसीला स्नेह चिररुद्ध, सुगुप्त, फिर भी मानो चिरातृप्त, सजग चुपचाप पड़ा है।

उसने कहा—बाबूजी, यह बीड़ा ले लीजिए, तब मैं जानूँ आपने माफ़ कर दिया।

मैंने यही कहा कि उसे इधर सद्गृहस्थोंके मकानोंकी ओर नहीं आना चाहिए और मुझे पान खानेकी आदत नहीं है।

उसने भी कहा कि वह अब नहीं आवेगा सिर्फ़ मकान देखनेके लिए आया था, जिससे जरूरत पड़ जाय तो फिर आ सके। कुछ दिनोंमें वह दिल्ली छोड़कर ही चला जानेवाला है।

फिर मेरी उससे और भी बातें हुईं।

कहाँ जायगा, यह मालूम नहीं है। जायगा किसी बड़े शहरमें ही। यहाँ क़िरायेकी एक कोठरीमें रहता था। दो महीने यहाँ रह चुका है। आवारा है। कोई उसके नहीं है। यहाँ नाम मालूम करके पूछता पूछता चला आया था। मेरा नाम भी बताया—हरिशंकर,एम.ए.। किसी खास मतलबसे नहीं आया था, यों ही आ गया था। पानके काममें उसे नफा नहीं है। वह और काम नहीं कर सकता। बस, कर सकता ही नहीं है। जानता भी नहीं है, तबीयत भी नहीं है। कुछ रुपया है उसके पास, वह इस काममें खो जायगा तो खो जाने दो। खर्च वह इतना कम करता है कि बीस साल तक गुज़ारा करनेमें उसे दिक्कत नहीं होगी। ऐसा साफ वह इसलिए रहता है कि रहना पड़ता है। पानोंसे पानके खर्चेके लायक पैसे निकल आयें तो यह बहुत है। वह और कुछ चाहता भी नहीं है।

मैंने इतनी बातें इसलिए कर लीं कि वह अब दिल्ली छोड़कर जा रहा है ही,

और वहाँ न आनेका वचन दे चुका है। आयगा तो मैं इसकी मरम्मत करवा दूँगा। पर आ नहीं सकेगा। ऐसी हिम्मत इस आदमीकी मालूम नहीं देती और इन बातोंमें झूठ बोल रहा हो, ऐसा बिल्कुल नहीं मालूम होता।

वह दो-तीन बीड़े मेरे यहाँ छोड़कर चला गया। मैंने बहुतेरा कहा, पर वह माना ही नहीं। बहुत कहा तो कहने लगा—इन्हें यहीं पड़े रहने दीजिएगा, सूख जायँगे। आपका कुछ हर्ज नहीं करेंगे। हर्ज करें तो फेंक दीजिएगा।

इसका उत्तर मैं क्या दे सकता था। खाने तो मुझे थे नहीं, ज्यादा बढ़कर फेंक देना भी ठीक नहीं होता। वापिस वह लेता था नहीं। मैं रखनेको लाचार हो गया। शुरूमें तो पैसे लेनेसे उसने इन्कार किया लेकिन फिर पैसे ले लिये और चला गया।

४

हमारे घरमें कभी कभी 'प्वाइन बिनारिस'का ज़िक्र आ उठता था, और हम लोग उसपर जी खोलकर हँसते थे। उसकी चाल-ढाल रहन-सहनपर भी खूब विनोदपूर्ण आलोचना हुआ करती थी। इस तरहके काममें तो उसकी याद काम आ जाती थी, विशेष मुझे उसका कुछ स्मरण नहीं रह गया था। उसकी जरूरत ही क्या थी? समयके प्रवाहमें वह बात आई-गई होती जाती थी। जैसे राह चलते कभी एक तमाशा दीख गया था,—एक मिनट खड़े होकर हमने देख लिया, और फिर आगे बढ़ते चले आये। वह अशुभ ग्रहकी भाँति फिर कभी हमारे रास्ते आयेगा और उसको काटता हुआ अपनी राह चला जायगा, ऐसी दुराशा हमें न थी।

एक रोज़ बड़े तड़के देखें कि वह मौजूद! मैं आवाज़ सुनकर नीचे आता हूँ तो अचरजमें रह जाता हूँ। शकल उसकी वही है, पर पहचाना नहीं जाता। मैले कुचैले कपड़े पहने है, धोती घुटनेसे नीचे नहीं पहुँच पाती। टोपीका भी कुछ ठीक ठिकाना नहीं है।

उसने कहा—बाबूजी, पहचाना नहीं?

मैंने कहा—पहचाना। पानवाले हो। पर यह क्या हाल है?

उसने कहा—बाबूजी, हाल कुछ नहीं है। मैं अभी लाहोर-अमृतसरसे आ रहा हूँ। अब दक्खनकी तरफ जाऊँगा। घंटे डेढ़-घंटेमें उधरकी गाड़ी जाती है। आपसे एक जरूरी काम है, इससे चला आया।

मैं बड़े असमंजसमें पड़ गया। ऐसे वक्त, ऐसी हालतमें, यह अपना ज़रूरी काम लेकर मेरे पास चला आ रहा है, जाने यह क्या नया बवाल है। मुझसे इस आदमीका क्यों कोई काम होना चाहिए। कहा—क्यों, पानका काम छोड़ दिया क्या ?

उसने आश्चर्यसे कहा—नहीं जी, छोड़ क्यों दूँगा ? छोड़ कैसे सकता हूँ ?

"फिर कुछ बहुत नुकसान टोटा तो नहीं आ गया ?"

उसने कहा—ऐसा बहुत टोटा भी नहीं आया। फिर कोई बहुत नफेके लिए मैं थोड़ा ही करता हूँ !

जाने कैसी बात करता है यह। मेरी कुछ समझमें नहीं आया। ऐसी दुर्गतमें फिर यह क्यों है ? पूछा—फिर क्या बात है ?

बोला—बात जी, कुछ नहीं है। मैं आपके पास एक बड़ी विनती लेकर आया हूँ। बस और कुछ बात नहीं है।

मैंने समझा, अब बला आई। जरूर कुछ रुपया-पैसा माँगेगा। ऐसी हालतमें इंकार भी कैसे किया जायगा, और इसे दे भी कैसे कुछ सकूँगा। मैंने कहा—तुम्हारा पान-वानका सामान कहाँ है ?

"वह सब है जी, वहीं रेलमें रखा है," वह बोला। साथ ही एक छोटी गठरी-सी खोलता जाता था। "बाबूजी, मैंने बहुत देखा, मुझे और कोई नहीं मिला। मेरा मन हारता जा रहा है। बाबूजी, मुझे आपका भरोसा है। मैं इतनी दूरसे इसीलिए आ रहा हूँ।..."

गठरी खोलता जा रहा था और बात करता जाता था। मैं मनमें सशंक हो रहा था। कैसी निर्विघ्नताके साथ मुझपर इसने भरोसा कर लिया है ! पर मैं कुछ नहीं दे सकूँगा। खूब भरोसा करनेवाला ठहरा ! उसकी बेतुकी बातोंको खत्म कर मैं छुट्टी ले लेना चाहता था। कहेगा, यह हो गया, वह हो गया, कुछ मदद कर दीजिए। मैंने कहा—मैं तुम्हारे लिए कुछ नहीं कर सकूँगा, समझे ?

उसके गठरी खोलते हुए हाथ ढीले हो गये। मानो याचना आँखोंमें भर आई।

"बाबूजी, ना मत करो। मेरा दम हारता जा रहा है। के बरस और रह सकूँगा, कौन जानता है। फिर मैं किसे और ढूँढता फिरूँगा ? बाबूजी, हाथ जोड़ूँ, ना मत करो। मैं बहुत बहुत आपका जस मानूँगा।"

मैंने देखा, अभी यह चालीस बरसका न होगा, कैसी बात कर रहा है। जीवनसे ऐसा हिरास हो गया है कि मौतकी बात करता है। मैंने कहा—फिर बात क्या है, कह भी तो कुछ।

उसने फिर गठरी खोलनी आरंभ कर दी और साथ साथ बोलने भी लगा—अब और बहुत जगह नहीं जाऊँगा। घूमते घूमते सात साल हो गये। अब ५-७-१० जगह और देखनी हैं। फिर करममें जो होगा—

गठरी उससे देरमें खुली। खोल कर कपड़ोंकी तहकी भी तहके भीतर कुछ देखने लगा।

देर लगती देख मैंने कहा—वहाँ भी पानका ही काम करेगा?

'हाँ जी' उसने कहा—जिन्दगीके अखीरी दिनतक यह काम करता रहूँगा। हाथ पैर नहीं चलेंगे, तब छोड़ दूँगा।

मैंने पूछा—अब ऐसे भेससे करेगा? पहले तो ऐसा नहीं रहता था।

उसने कहा—ऐसे भेससे क्यों करूँगा, पहलेसे भी अच्छे भेससे करूँगा। ऐसे भेससे पानका काम करना होता तो घूमता क्यों फिरता, बाबूजी।

मैंने कहा—तो वह ठाठ उसी वक्तके लिए है!

लेकिन उसने मेरी बात सुनी नहीं, क्योंकि तभी उसकी इच्छित वस्तु कपड़ोंमें मिल गई थी। उस डिबियाको खोल कर मेरे सामने करते हुए कहा—बाबूजी, यह रख लीजिए।...

मैंने देखा, सोनेके चार-पाँच जेवर हैं। नये हैं, और कीमती हैं।

मैंने सोचा, जाने क्या संकट यह आदमी मेरे ऊपर लानेवाला है। मैंने कहा—बेचते हो इन्हें?—मैं नहीं लेना चाहता।

"नहीं नहीं" उसने कहा, "बेचता नहीं। इन्हें बेचूँ तो नरकमें जाऊँ। इन्हें आप रख लीजिए।..."

मैंने कहा—मैं क्या करूँगा इनका?

वह बोला—मैं अभी बताता हूँ।

मैंने कहा—मैं नहीं रख सकता। पराई चीज मैं नहीं रखता। ऐसा व्योहार मैं नहीं करता।

उसने कहा—बाबूजी, रख लीजिएगा तो बड़ी दया होगी। जाने घूमते घूमते मेरी आँख कब मिच जाय। इन्हें लिये लिये मैं कहाँ कहाँ डोलूँ? सोनेकी चीज मुझ गरीबके पास अच्छी नहीं। जब जरूरत होगी माँग लूँगा। मेरे जीते

जी या मरनेपर ये किसी चोर-उचक्केके हाथ पड़ जायँगी। बाबूजी, ये चीज़ें मैं किसी चोरके हाथमें नहीं पड़ने दूँगा।

मैंने कहा—तो मैं इनका क्या करूँगा?

"मैं बताता हूँ" उसने कहा और इसके बाद एक औरतका बखान करना शुरू कर दिया। बखानसे मैं यह समझ सका कि यह स्त्री पर्याप्त रूपमें असुन्दर रही होगी। उसका नख-शिख-वर्णन करके उसने कहा—इस हुलियाकी स्त्री मिले तो उसे दे देना। मुझे मिलेगी तो मैं माँग लूँगा।

मैंने पूछा—वह कौन है?

उसने कहा—जी, ये सब चीज़ें उसकी ही हैं।

मैंने कहा—हैं तो, पर वह तुम्हारी कौन है?

वह इस प्रश्नके लिए जैसे तैयार न था।

उसने कहा—मेरी?—मेरी, जी, वह कोई नहीं है।

उसकी इस बातका कोई विश्वास कर सकेगा, यह वह कैसे समझ सकता था। मैंने बतला दिया कि सब कुछ जान लिये बगैर मैं चीज़ें रखनेके लिए बिल्कुल तैयार न हूँगा। वह लाचार हो गया।

लाचार होकर, मैं जानता हूँ, वह निहाल भी हो गया। जिस वस्तुको बरसों-बरस अपने भीतर दुबकाये रखकर, उसको पोसता और सुहलाता हुआ वह भटकता रहा है, हृदयमेंसे फाड़ निकालकर उसको वह हर किसीकी उत्सुक दृष्टिके सामने लाकर कैसे रख सकता था? लेकिन क्या वह, सच, नहीं चाहता कि किसी मानवी हृदयके सामने ऐसा करना ही पड़ जाय? क्योंकि तब दूसरे हृदयकी सहानुभूतिकी हल्की-सी गर्मी पाकर उसके हृदयकी पत्थरकी-सी जमकर बैठी हुई वेदना द्रवित होकर आँखोंकी राह कुछ झर तो जा सकेगी। उसे तब कुछ आराम मिलेगा। उस पत्थरको दिलमें रखकर जो बाज़ारमें उसे हर आते-जाते स्त्री पुरुषके सामने हँसते रहना पड़ता है, उस बेदर्द व्यापारसे उसका जी भरकर ऐसा भारी हो आया है कि कहीं कुछ आँसू ढालकर हलका हो रहनेके लिए व्याकुल है।

वह बहुत देर तक कहता तो रहा कि वह उसकी 'कोई नहीं है, कोई नहीं है,' किन्तु जब उसे कहना ही पड़ गया, तब नदीके रुके हुए वेगकी तरह फूटकर वह बह निकला। मैं भी उस समय सँभल न सका!

मैं आपको कष्ट देना नहीं चाहता। इसलिए, उस बातको आवेशसे और भावसे हीन करके इतिहासके सत्यकी भाँति कोरी कोरी सुना दूँगा।

वह स्त्री उसकी ब्याहता थी। वह बनारसके पास एक गाँवमें रहता था। वैश्य है, मामूली तौरपर संपन्न था। अपने सादा ढंगसे रहता था। स्त्री बड़े घरकी नहीं थी मामूली थी, इसलिए, उसके जीमें अच्छा खाने-पहननेका चाव बहुत था। उसके पतिका चलन बदलनेमें न आता था। वह इन बातोंको अच्छा नहीं जानता था पर स्त्रीको बड़ा प्यार करता था। उसी गाँवमें था एक पनवाड़ी। वहाँसे घरमें पान आया करते थे। जब पनवाड़ीने जाना कि पति पान नहीं खाता, पत्नी ही पान मँगाया करती है, तब एक दिन उसने चाँदीका वर्क लगा पान भेजा। पानवाला खूब सजावटसे रहता था। आरंभ इस तरहसे हुआ, अन्त यह हुआ कि पत्नी एक रोज घरमें न पाई गई। पानवालेका भी गाँवमें पता न मिला। जेवर सब ले गई थी, दुर्भाग्यसे ये कुछ रह गये थे। ये उस समय वहाँ न थे। तबसे वह जगह जगह डोलता रहा है। मकान, ज़मीन सबसे छुट्टी लेकर, उन सबको नकद रुपया बनाकर जाने कहाँ कहाँ घूम आया है। पर नतीजा अबतक कुछ नहीं निकला। अब पाँच-सात बड़े शहर और रह गये हैं। वहाँ भी भाग्य आज़मा लेगा।

इस ठोस घटनामय अस्थिपंजरके ऊपर निरर्थक नित्यप्रतिके आपसी राग-प्रेमके व्यापारोंसे छाया सजीव कलेवर प्रस्तुत करके जो अतीतकी वेदना-मूर्ति उसने मेरे सामने खड़ी कर दी थी, उसको आप तथ्य-प्रिय लोगोंके सामने रखना मैं उचित नहीं समझता। उसने कहा—

"हाय, मैंने उसे कुछ सुख नहीं पहुँचाया। उस बिचारीके मनके लायक भी मैं अपनेको न बना सका। उसे क्यों नहीं मैंने सब कुछ ला लाकर दिया? मैं उसे संतुष्ट नहीं रख सका, तभी तो उसे जाना पड़ा। अब मिलेगी तो उसे कुछ कमी न रहने दूँगा। हाय बिचारी मेरे आसरे पड़कर आई, और मैं ऐसा निकम्मा कि उसे इतना दुःखी किया कि वह भाग गई। दुख दे दे कर मैंने उसे निकाल दिया। अब ऐसा नहीं करूँगा। उसीकी राजीमें चलूँगा।"

उसने बात-बातमें मुझसे दो-एक सवाल भी किये। पूछा—

"अब मुझे देखकर वह नफ़रत तो नहीं करेगी? अब मैं खूब अच्छी तरह सुर्मी लगा लगू कर रहूँगा, क्यों बाबूजी?"

मैंने समझ लिया कि शायद अपनी इसी शंकाका समाधान और अपनी इसी योग्यताकी मूक परीक्षा कर डालनेके लिए वह झट पहुँचकर आती जाती स्त्रीकी ओर भाव-भरी आँखोंसे देखकर मानो निर्णयके लिए याचना किया करता था।

प्रश्नके उत्तरके लिए बहुत ज़िद करनेपर मैंने कह दिया था कि अब वह तो क्या, कोई स्त्री देखेगी तो उसपर लुब्ध हो जायगी।

उसने मुझे सर्वज्ञ जानकर यह भी पूछा था कि क्या उसकी स्त्री उसे मिल जायगी ?

मैंने अपनी दृढ़ आशा प्रकट की थी। उसके इच्छानुसार सच्चे हृदयसे मैंने उसे आश्वासन दिया था कि मैं उसे ढूँढ़नेमें कुछ न उठा रक्खूँगा।

यह सब कुछ वह अपने रेलके समय होनेसे पहले कर चुका और वह डिबिया मुझे सौंपकर चला गया।

५

फिर मुझे उसका कुछ पता न चला। न स्त्रीका ही कुछ हाल मिलनेमें आया।

दो साल बाद जो एक कार्ड मुझे मिला, वह मैंने रखा नहीं। पर वह मुझे याद है। नागपुरसे वह आया था। लिखा था—

"मेरा अन्त रोज़ अब पास आ गया है। दो-एक दिन अभी यहाँ धरतीपर और रह जाऊँगा। वह आती बाबूजी, तो मैं परमात्माकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ, उसे अब किसी बातकी कमी नहीं होने देता। पर वह डरती होगी, इसी मारे नहीं आई। बाबूजी, मैं मिलता तो कहता, तू फिज़ूल डरती है। कोई उसे मिले तो यही कहे कि वह मूरख है, नाहक डरती है। और यहाँ छिद्दा पंसारीको जो कुछेक रुपये मेरे पास बच रहे थे वह दे दिये हैं। दो सौसे पाँच-सात ऊपर हैं। और एक अँगूठी बड़ी अच्छी मुझे दीख गई थी, वह मैंने ले ली थी। वह भी उसीके पास है। आप ज़रूर ज़रूर खत डालकर मँगा लेना और लछमनिया मिले तो उसे दे देना। और कहना, तू फ़िज़ूल डरती थी। कहना, छिः, डरा करते हैं ! बाबूजी, इतना काम आप ज़रूर कर दोगे, इसका मुझे भरोसा है...।"

चिट्ठी पाते ही मैंने अपने एक मित्रको नागपुर तार दिया। उसे छिद्दा पन्सारीका पता लिख दिया और पानवालेको ढूँढ़कर उसकी यथायोग्य व्यवस्था कर देनेको लिख दिया।

छिद्दाने मेरे मित्रके निकट अपनी सर्वथा अनभिज्ञता प्रकट की। "गङ्गाजीकी कसम, मैं कुछ नहीं जानता। किसीने मुझे कुछ नहीं दिया। पानवालेको मैंने जनम-जनम नहीं देखा।" आदि।

सो, वे चीजें मेरे पास अब भी हैं। पर सोचता हूँ, किसी दीन विधवाको दे दूँ। नहीं तो, बताइए, क्या करूँ !

संबोधन

मैं आ गया और मेरे आनेका उसे पता न लगा। आँख मूँदे आरामकुर्सी-पर वह लेटा हुआ था। मैं धीमे धीमे कुर्सी तक गया, खड़ा रहा।—घड़ी मेजपर टिक टिक कर रही थी। गर्मी थी और पंखा बंद था। मेजपर पेपर-वेटके नीचे कुछ काग़ज़ चित पड़े थे। दूसरी मेज़, जहाँ रोज नियमसे दो क्लार्क बैठे काम करते होते थे, बिल्कुल खाली थी। और कमरा सुन्न, व्यवस्थित, अकेला था।

...ये सो रहे हैं या सोच रहे हैं? और मुझे आतुरता-पूर्वक बुलाकर आप बेखबर हो रहनेका प्रयोजन क्या है?—मैं चुपचाप फिर दर्वाजेपर लौट गया और वहाँसे पैरोंकी आहट करता हुआ वापिस कुर्सीकी ओर बढ़ा।

वह एकदम चौंककर उठा, उठकर खड़ा हो गया, पहचाना।—"ओह, आ गये! मैं जानता था, तुम आओगे। क्योंकि न आते तो मेरी मौत आती। मुझे तुम्हारा भरोसा था। भरोसा तुम्हारा ही मुझे है।—बैठो—"

कहकर, मेरा हाथ पकड़कर, अपनी कुर्सीकी ओर मुझे खींच लिया और आप दर्वाजेकी ओर बढ़ा।

"बैठो बैठो।—क्या? पौने दो हो गये! कुशल हुई। तुम खूब ही वक्तपर आये। तो मेरा नसीब बिलकुल नहीं मिट गया है। आध घंटा और हो जाता तो ग़ज़ब ही हो गया था। ऐसा ग़ज़ब, कि फिर जाने क्या होता।...पर अब ठीक है।—बैठो-बैठो, मैं भी बैठता हूँ।"

मैं उसे देखता रहा। मैं इतना तैयार न था। मुझे गुमान न था कि हालत चढ़ी होगी और अनुमान न था कि बात क्या है।

उसने जाकर दर्वाजेकी चटखनी बँद कर दी, बिजलीके पँखेका मुँह मेरी ओर करके चला दिया और एक कुर्सीपर बैठ गया। मुँह उसका चटखनीकी ओर था और बंद था। वह बोला नहीं। मैंने कहा—क्या है?

वह जैसे दम ले रहा था। वह कुछ बोल नहीं सका। पर उसकी सम्पूर्ण मुद्रासे उत्तर मिला कि मैं तनिक उसे सँभलने दूँ।

मैं रुक गया। कुछ देर बाद फिर पूछा—आखिर बात क्या है?

कुर्सी उसने अब मेरी ओर कर ली। कहा—बताता हूँ। पर, तीन बजे तक, देखो, तुम मत जाना। मैं यही कहता हूँ। मैं जब कह दूँ, तब जाना।

मैंने उसे देखा, कहा—नहीं। मैं अभी जा रहा हूँ। लेकिन, और सब लोग कहाँ हैं? और यह क्या बात है,—तुम ऐसे क्यों हो?

उसने कहा—मैंने सबको भेज दिया है कि शामतक न लौटें। इसका इंतजाम किया है कि मैं अकेला रहूँ, सहायता पास न रहे। निस्सहाय होकर डूब जाऊँ। पर, ज्यों ज्यों मिनट बीते और वह घड़ी पास आने लगी तब आस दीखी कि डूबना ही एक राह नहीं है, और मेरे पास तुम हो। तुम हो, तब क्यों डूबूँ? तुमको पास बुला लूँगा, और तिर जाऊँगा। और तुम आ गये हो।...वह गानेकी आवाज़ सुनते हो?...

हाँ, मैंने गानेकी आवाज़ सुनी। हार्मोनियम बज रहा था और उसके साथ कभी कभी एक स्त्री-कंठ आलाप लेता था। बाजा और बजानेवाली कहीं पास ही थे। संगीतकी आवाज़ बंद कमरेमें खासी स्पष्ट आ रही थी।

उसने पूछा—क्या कहते हो?

मैं समझा नहीं।

"गाना कैसा है? और बजाना कैसा है?"

मैंने कहा—कोई ख़ास अच्छा नहीं है।

उसने आवेशमें कहा—ख़ास अच्छा नहीं, बिलकुल ही अच्छा नहीं है। अच्छाई उसमें नामको नहीं है। तुम जानते हो, गाना अच्छा क्या होता है? मैं भी ऐसा नहीं जानता। पर यह किसी तरह अच्छा नहीं है। किसी तरह नहीं है।—यही दो बजे यहाँ आनेवाली थी।

मैं उसे देखता रह गया।

"...पर, अब नहीं आयेगी। अब तुम हो और द्वारकी चटखनी बंद है। देखते हो न, मैं इसीके लिए अकेला था। मैंने सबको दूर भेज दिया था कि दोका वक्त पास आये। पर, अब दो बजते हैं, फिर भी मुझे डर नहीं है। मैं तुम्हें सब बताऊँगा। तुमसे जानूँगा कि मैं क्षम्य हूँ। तुमसे सुनूँगा कि मैं बीत नहीं गया हूँ। मुझे पता नहीं होता कि बात क्या होती है। तुम मेरी पत्नीको जानते हो? कौन अंधा है कि कहेगा वह कम सुन्दरी है। और मालूम नहीं

तुमने कभी उनका गाना भी सुना या नहीं ! सच कहता हूँ, खूब गाती हैं। और बजानेमें, छात्रावस्थामें, कई पदक पाये हैं। पर घरमें सब बंद है, और गानेकी जगह कलह होता है। उनके बारेमें मेरे जीमें ऐसा निरुत्साह बस गया है कि वह गाना भूलती जा रही हैं और बाजोंपर धूल जम रही है। और गानेके नामपर यह चिल्लाना सुना न ? लेकिन सच कहूँ तो अभी पत्नी आँखें मीचे मैं इसीका रस ले रहा था। इस बेसुरी चीखमें रस कहाँ है, रसकी ठठरी है; पर मैं रस ले रहा था। अच्छा है, अब वह बंद हुआ। कोई गानेमें गाना है ! पर, उसीमें अपनेको भूल जानेका अवसर मैं निकाल लेता हूँ। भाई, यह क्या होता है ? यह देखते हो, यह कम्बख्त हाथका बाजा ? सीखनेके लिए मैंने मँगा लिया है।—रोज़ दो घंटे, तीन घंटे, यह बाजा इस तरह बेसुरा सिरपर चीखता है। पर उसीको सुनकर मैं इतना अवश हो उठा कि यह बाजा मँगा लिया। इसपर वही गत सीख रहा हूँ, जो सुनता हूँ।...भाई, क्यों इस संगीत-सम्बन्धी अपने उत्साहका कुछ भी भाग मैं पत्नीके सामने होकर अपने भीतर कायम नहीं रख सकता ?...और यह लड़की ! देख पाओ तो जानो, सौन्दर्यहीनता क्या वस्तु है। रंगकी मैली है। थोड़ी-सी अँग्रेजी जरूर पढ़ गई है; पर, वह उसके भीतर रह कर नहीं टिक पाती, मानो उफनी उफनी पड़ती है। पच जाती, तो गुण बनकर उसका सौन्दर्य बढ़ाती। अब बाहर फैलकर केवल फैशन बढ़ा पाती है। सब कुछ है, लेकिन...मुझे बताओ, मैं क्या करूँ ? अच्छा ठहरो। मैं दिखाता हूँ..."

मैं उसे देखता ही रह सका। उसने मुझे कुछ बोलनेका मौका नहीं दिया। बहुत कुछ था उसमें जो बंद था, घुट रहा था, और बाहर हो रहना माँगता था। उसने चाबीसे बड़ी मेजकी दराज़ खोली, एक डिब्बा निकाला, उसे भी चाबी लगाकर खोला, और कुछ कागज निकालता था कि बाहरसे दरवाज़ेको खटखटाया गया। मुझसे पहले खटखटाना उसने सुना। उसके कान मानो वहीं थे। भयग्रस्त हो एकदम सब छोड़ उठकर वह मेरे पास आ गया। उसने मेरे कानमें कहा—दया करो, कुछ बोलो। कुछ बोलो, और जोरसे बोलो। कह दो, मैं नहीं हूँ।

मैंने धीरेसे कहा—डरो मत। जाकर दर्वाजा खोल दो। झूठका आसरा मत लो, जीतका रस्ता यह नहीं है।

खटखटाहट ठहर ठहर कर जारी रही।

वह बेहद कातर हो उठा। उसने कहा—इस वक्त मुझे बचा लो। कुछ ज़ोरसे बोलकर अरे यह जतला दो, भीतर कोई और भी है।

मैंने कहा—तुम नहीं जाते तो मैं जाकर दर्वाज़ा खोल देता हूँ।

बाहरसे बहुत धीमी-सी आवाज़ आई—शंकर...

शंकरने मेरे पैर पकड़ लिये—अच्छा, दो मिनट रुक जाओ। वह आप चली जायगी। देखो...

"उठो शंकर" मैंने कहा, "जाओ, किवाड़ खोलो, नहीं तो मैं खोलता हूँ।" इस बार धीमे-धीमे द्वारपर दो थपकी दी गई।

शंकर विमूढ़ खड़ा रह गया, हिल न सका।

मैंने जाकर चटखनी खोल दी।

दर्वाज़ा खुला और एक सोलह वर्षकी लड़की सामने दिखाई दी।

वह स्तब्ध, फक रह गई।

मैंने कहा—आइए—

वह लौट भी न सकी, आ भी न सकी।

मैंने कहा—आइए, शंकरदयाल यह हैं।

वह अन्दर आगई। शंकर मूढ़ हो बैठा। उसने नीचे देखा, ऊपर देखा, फिर सामने देखता खड़ा रह गया।

किशोरीने कहा—मैं—मैं...

मैंने कहा—शंकरदयाल, यह महिला क्या माँगती हैं, सुनो।

किशोरीने कहा—मैं,—मैं 'परख' चाहती हूँ। आपके यहाँ है?

शंकरदयालने चुपचाप एक शेल्फसे 'परख' की एक प्रति निकालकर पेश की।

किशोरी—क़ीमत तो इस समय मेरे पास नहीं है। मैं पूछने ही आई थी, है या नहीं।

शंकर—आप ले जाइए।...

किशोरी—नहीं, फिर ले जाऊँगी।

शंकर—किताबें बिकतीं मेरी दुकानपर हैं।

किशोरी—मुझे मालूम नहीं था, नहीं तो मैं क्यों आती, वहींसे मँगा लेती। भाईने कहा था, यहाँसे मिल जाती हैं। मुझे माफ कीजिए।

मैंने कहा—आप यह प्रति ले जाइए। और कीमत आपको नहीं देनी होगी।

किशोरी संकटापन्न दृष्टिसे मेरी ओर देखने लगी। उसे मेरे बारेमें जैसे बड़ा भारी संदेह हो आया। क्या मैं उसके प्रणय-भेदसे परिचित हूँ? मैंने तुरंत कहा, "शंकरदयाल अवश्य पुस्तक-विक्रेता हैं। किन्तु मैं 'परख' का लेखक हूँ। मेरी ओरसे आप यह प्रति ले जाइए।—शंकरदयाल, यह प्रति उन्हें दे दो। मूल्य नहीं लिया जायगा।"

बेचारी वह बाला मूढ़-कर्तव्य हो रही। शंकरदयालने जब वह पुस्तक उसकी ओर बढ़ाई, तो न हाथ फैलाकर ले सकी और न स्पष्टतासे इनकार कर सकी।

मैंने कहा—लेखककी हैसियतसे मेरे लिए यह बिलकुल असह्य है कि मेरे सामने कोई मेरी पुस्तक माँगे, और पुस्तक हो, फिर भी वह न मिले। आप निश्चय रखें, मैं कभी यह न सहूँगा।

उसने हाथ बढ़ा दिये, मानो होनहारको उन हाथों थामना होगा ही,—इस भावसे।

शंकरने वह प्रति उन हाथोंमें दी।

किशोरीने कहा, "मैं दाम शाम तक भिजवा दूँगी" और शीघ्रतासे चली जानेको वह तैयार हो गई।

मैंने कहा—दाम आप बिलकुल नहीं भिजवा सकेंगी। और शंकर, तुम बिलकुल नहीं ले सकोगे। और आप जाती अभी क्यों हैं? 'परख' के लेखकके कहनेसे कुछ देर भी नहीं ठहर सकतीं?

इस तरह रुकी जाकर वह बोली—मुझे काम है। बस किताबको पूछने आई थी। अम्माजी भी कहती थीं मैं पढ़ूँगी। मुझे मालूम नहीं था, यह गलत है कि यहाँ किताबें मिलती हैं। मुझसे भाईने कहा था, किताब चाहिए तो शंकरके यहाँ पूछ लेना। पूरा नाम भी नहीं जानती थी—शंकरदयाल। सो, अभी इनका नाम पूछती चली आई। सोचा, गर्मीके मारे किवाड़ बंद कर लिये हैं, भीतर लोग काम कर रहे होंगे। मैं नहीं जानती थी कि आज—आज, कोई नहीं है। मुझे माफ कीजिए मैंने आपका हरज किया।...

और इस कैफ़ियतके बारेमें मानो आप ही आप संदिग्धचित्त होती हुई वह अपनी नई धानी रेशमी साड़ीमें सकुच कर रह गई। वह अबोधा नहीं जानती कि एक अजनबीकी आखोंमें इतना कुछ कहकर अपनी प्रामाणिकताकी

प्रमाणित करनेकी चेष्टा अपने-आपमें ही संदिग्ध होकर प्रकट होती है। उस समय जीमें आया, उसे कहूँ कि बेटा, सत्य सदा सुखकारी है। सत्यमें मंगल है, जय है। किंतु तभी मुझे यह भी प्रतीति हो गई कि कहीं अप्रिय सत्यको रोक रखना ही धर्म क्यों बताया गया है। मुझे तब भली प्रकार जान पड़ा कि अहिंसा सत्यका व्यवहार्य रूप क्यों है। अहिंसा-हीन सत्यका सेवन आत्महीन, प्राण-हीन जड़का सेवन क्यों है। और मैं किसी प्रकार भी उस छायाके आसरेको तोड़नेकी हठ अपने भीतर नहीं जगा सका जो उस बेचारी बालाने, विपताकी हालतमें, झीनी-सी असत्यकी जाली ऊपर तानकर अपने लिये छा लिया था। वह मायाकी जाली यदि अभी अभी छिन्न-भिन्न होकर हट जाय, तो वह कैसे सह सके? जीना उसे दूभर न हो जाय? लाजकी मारी बिचारी मर न जाय?

मैंने कहा—मैं समझा था, आप इन्हें जानती हैं। अब जाना कि आप पूरा नाम भी नहीं जानती थीं। आप कहीं पड़ोसमें ही रहती हैं, शायद साहित्यकी सब प्रकारकी पुस्तकें इनके यहाँ आती हैं। और जो ज़रूरत हो, यह मँगा दे सकेंगे। यह मेरे मित्र हैं, मेरी ओरसे आपकी आवश्यकताओंका निश्चय यह आदर करेंगे। 'परख' पढ़कर आप इन्हें बता जायँ आपको कैसी लगी, और अवश्य बता जायँ। मैं इनसे पूछूँगा।

जहाँसे संदेहका और अवज्ञाका उसे भय था, वहींसे सहज विश्वास और अप्रत्याशित आदर उसने पाया, तो सिरसे पाँव तक वह लज्जायुक्त आत्म-संकोचमें डूबनेको हो गई, और क्षण भी और न ठहर सकी, झटपट चली गई।

२

स्वस्थता पाकर शंकरने कहा—यह तुमने क्या किया!

मैंने माना कि सच, मैं कुछ नहीं कर सका।

शंकर—तुमने मुझे डूबनेके लिए कुछ बाक़ी नहीं छोड़ा था। ख़ैर, तुम्हींने बचा भी लिया। तुम क्या चाहते थे?

मैंने पूछा—शंकर, तुम क्या चाहते हो?

किन्तु शंकर क्या चाहता है? वही चाहता है जो बहुतोंने चाहा है, कमने पाया है। कर्तव्यकी सामने एक राह उसने बनाई है। चाहता है उसी उसीपर चले, डिगे नहीं। और देखता है, सब कुछ मानो उसे उसपरसे डिगानेपर तुला है। वह नहीं डिगना चाहता, पर डिगे बिना भी कैसे रहे। वह चाहता है कि कोई

उसे बचाये। वह चाहता है कि क्यों, उसकी पत्नी ही उसके लिए सब कुछ न हो रहे, जैसे कि वह सब कुछ हो रहने योग्य है। जो है नहीं, वही तो वह चाहता है।

मैंने कहा—मैं तुम्हारी जीत चाहता हूँ, शंकर, और चाहता था कि तुम दोनोंको एक साथ छोड़कर मैं चला जाऊँ। तुम दोनों एक दूसरेके प्रति चोर बनकर न रह सको सुहृद् बन कर रहो, मैं इसका प्रबन्ध करना चाहता था। पहले भय छोड़ो। भयभीत होकर जो कर्तव्य-पालन होता है, समझो, वह, टूटनेके लिए, अवसरकी प्रतीक्षामें ही रहता है। वह टूटा भला। भयपर कर्तव्यको मत टिकाओ, उसे सत्यपर खड़ा करो। पहले असच्चरित्र जाने जानेकी क्षमता जगाओ। फिर अपने बल सच्चरित्र बनो। भयके अवलम्बपर खड़ी सच्चारित्रता बालूकी भीतपर खड़ी पताका है। लगता है, हम जयी होकर खड़े हैं; पर वह विजयका व्यंग है। वैसी विजयकी इच्छा भी नहीं करनी चाहिए। हार अपनानेकी खुली विनम्र तैयारीमेंसे जय बनती है।...इसलिए मैं चाहता था, कि तुम दोनोंमें आपसी सम्बन्धके बारेमें स्तेय-भावकी चेतना कम हो, और यह चेतना उत्पन्न हो कि एक है जो साक्षी है, और तुम दोनोंको इसलिए साथ और पास करना चाहता है कि तुममें एक-दूसरेके प्रति आदर-भाव उत्पन्न हो। आज तुमने अपनेको लाचार कर लिया है कि एक दूसरेको इतनी घृणा करे कि प्रेमके लिए छल और चोरीकी सहायता लेनी पड़े। तुम्हारे मनमें उसका आदर नहीं, उसके जीमें तुम्हारा नहीं। फिर भी तुम टोहमें रहते हो कि एक क्षण अवसर पाओ, उसे देखो, और सामने कर-चुम्बनके प्रार्थी होकर खड़े रह जाओ। फिर, तुम ग्लानि जगाते हो, कहनेको बाध्य होते हो कि वह असुन्दर है, हीन है, अपात्र है। मैं कहता हूँ, यह विषमता भयने पैदा की है और यह आकर्षण चोरीकी आवश्यकतामेंसे निकला है। निर्भीक बन सकोगे, तो सहज भाव बढ़ेगा। खुल रहोगे तो आकर्षण तीखा नहीं रहेगा, स्निग्ध होगा।

किन्तु, मैं इतना बोलना चाहता नहीं था। और मैंने देखा कि उसका मुँह सूना है। हाय, वह मुझसे क्या चाहता है। मैं तो अपेक्षाहीन सत्य ही कह रहा हूँ। वह विरक्तिके उपदेश-सा नहीं लगता और उसमें भर्त्सना नहीं है, यह तो ठीक ही है। तब क्या वह प्रत्यक्ष तिरस्कार ही चाहता है, ठोस नीति ही चाहता है? किन्तु, जो जितना ही ठोस और प्रत्यक्ष है वह तो उतना ही कम भीतरी और उतना ही कम अमोघ है।

देवी-देवता

एक बार, जब दुनियाँमें प्राणीकी भी उत्पत्ति नहीं हुई थी, तब, स्वर्गलोकमें घमासान मचा। देवियोंने देवताओंसे असहयोग ठान लिया। कहा—हम देवी नहीं रहना चाहतीं, हम स्त्री होना चाहती हैं। मनोरंजनमें ही क्या हमारी सार्थकता है? हम कर्म चाहती हैं। सतीत्व क्यों हमें दुष्प्राप्य है? और सन्तति-पालनका कर्त्तव्य हमारे लिए भी क्यों नहीं है?

देवता लोगोंकी बड़ी मुश्किल हुई। उनका जीवन क्या था, आमोद ही था। अप्सरा उस आमोदकी प्रधान केन्द्र थी। अप्सराने सहयोग खींच लिया, तब देवताका जीवन ही निराधार होने लगा। उसका रस उड़ गया। वह खोया-सा, —व्यर्थ-सा, अपनेको लगने लगा।

किन्तु फिर भी कुछ कालतक देवता लोग अपनी अस्मितामें डटे रहे। सोचा, देवियाँ न झुकेंगी तो करेंगी क्या!

कुछ दिन बाद देवियोंको भी लगने लगा कि असहयोग कदाचित् ठीक नहीं है। लेकिन हारें तो देवी कैसी? तब सभाएँ करके वे आपसमें खूब वादविवाद करने लगीं और मालूम हुआ कि देवताओंको तो वे इस बार अच्छी तरह बता-कर ही छोड़ेंगी।

पर असहयोग सामयिक नीति भले हो जाय, कहीं शाश्वत रूपमें वह टिक सकता है? टिकाऊ सत्य तो परस्परका लेन-देन ही है। फूट तो अन्तमें खुद ही फटती है, और दुनियामें विना मिले तो अन्त तक कुछ भी काम नहीं चलता।

किन्तु मिला कैसे जाय? मिलनेमें तो मान खंडित होता है! सिर ऊँचा तानकर अपनेपनमें सतर खड़े होनेसे तो मिलाप नहीं होता। कुछ नमो, झुको, तब मेल होता है।

सो जब असहयोग ठना तब इच्छा होनेपर भी मिलना सहज न दीखा।

उस समय इन्द्रने मेल-मिलापकी कोशिश की, जिस कोशिशसे मेल-मिलाप तो न हुआ, फिर भी यह पता चला कि ब्रह्माजी आकर अवश्य कुछ

समझौता करा सकते हैं। उनके हाथमें तो सब कुछ है न। वह स्वर्गके विधि-विधानमें कुछ संशोधन करना चाहें तो भी कर सकते हैं। इसलिए, उनके पास चला जाय।

निर्णयके लिए उलझन यह उपस्थित थी कि देवियाँ तो सतीत्व चाहती थीं और देवताओंको विवाहकी आवश्यकता समझ न पड़ती थी। सच यह है कि देवता लोग स्नेहके कारण ही देवियोंको प्रजनन और सन्तति-रक्षणकी झंझटमें डालना नहीं चाहते थे। उनकी समझमें नहीं आता था कि इन देवियोंकी मति कैसी है कि और बवाल सिरपर लेना चाहती हैं! स्वर्गको स्वर्ग ही नहीं रहने देना चाहतीं। है न उलटी मति!

और देवियोंका मत था कि इन देवताओंको अपने सुख-सम्भोगकी चाहना है। हमें कष्ट होगा, तो हम देख लेंगीं। लेकिन अपने ऊपर हम एक स्वामी चाहती हैं। सतीत्व और पत्नीत्व और मातृत्व, इनका बोझ जब हम खुद उठाना चाहती हैं तब देवताओंको क्यों चिन्ता होती है? असल बात तो यह है कि पत्नीका स्वामी बनकर भी उस देवताको तो अपनी उच्छृंखलतापर बाधा ही मालूम होती है। वह निर्द्वन्द्व रहना चाहता है निर्द्वन्द्व। लेकिन हम गुलाम बनकर भी उसकी निर्द्वन्द्वता नष्ट करेंगीं,—नष्ट करके ही छोड़ेंगीं।

आखिर ब्रह्माजीके पास मामला पहुँचा। उन्होंने दोनों पक्षोंकी सुनकर देवी-देवताओंको किंचित् प्रतीक्षा करनेका परामर्श दिया। कहा—विवाहका उदाहरण पहले आप लोग देख लीजिए। तब विचारपूर्वक जैसा हो, निर्णय कीजिएगा। देखिए, दूर, वह ग्रह आपको दीखता है न। उसका नाम पृथिवी है। अभी तो वहाँ धरती ही तैयार हो रही है। किन्तु बहुत ही शीघ्र, अर्थात् कुछ ही लक्ष वर्षोंमें, वहाँ मनुष्य नामक प्राणीकी सृष्टि कर दूँगा। वे पृथिवीके व्यक्ति परस्पर पति-पत्नी बना करेंगे और वे परस्पर आकांक्षापूर्वक ही सन्तति प्राप्त किया करेंगे। वहाँ सतीत्वकी भी महिमा होगी। तुम लोग उनके समाजको देखना। उसके बाद अपनी सम्मति स्थिर करना और मुझको कहना। तब तकके लिए असहयोग स्थगित रक्खो। इतने स्वर्गको स्वर्ग ही रहने दो और उसका वर्तमान कान्स्टिट्यूशन भी रहने दो। पीछे उसे मानव-लोककी ही भाँति बनाना चाहो तो दूसरी बात है। तबका तब देखा जायगा।

उस समयसे स्वर्गलोकमें यद्यपि असहयोग स्थगित है, किन्तु इधर उनमें जोर-शोरसे इस सम्बन्धमें विवेचन होने लगा है।

दुनियामें विवाह भी है, तलाक भी है। स्वच्छन्दता भी है, परवशता भी है। सती भी है, वेश्या भी है। हर किसी बातका कुफल भी है, सुफल भी है। पाप-पुन्न आदि सभी कुछ है।

सो देवी-देवता लोग इसे देख रहे हैं और दुनियाकी इस स्थितिकी स्वर्गलोकमें बड़ी चर्चा चल रही है। पर यह निर्णय नहीं होनेमें आता है कि ब्रह्माजीके पास आखिर किस माँगको लेकर पहुँचा जाय ?

अनबन

स्वर्गमें इन्द्रके पास शिकायत पहुँची कि धृति और बुद्धि इन दोनोंमें अनबन बनी रहती है। यह बुरी बात है और अनबन मिटनी चाहिए।

इन्द्रने बुद्धिको बुलाया। पूछा—क्यों बुद्धि, यह मैं क्या सुनता हूँ? धृतिके साथ तुम्हारी अनबनकी बात बहुत दिनोंसे सुनता आ रहा हूँ। तुम्हारी और स्वर्गकी प्रतिष्ठाके यह बात योग्य नहीं है।

बुद्धि—मेरा इसमें क्या दोष है? मुझे अप्सराओंमें प्रमुख पद दिया गया। लेकिन धृति मेरी प्रमुखता नहीं मानती। यह धृतिहीका दोष है।

इन्द्र—धृति क्या कहती है? कैसे वह तुम्हारी प्रमुखता नहीं मानती?

बुद्धि—वह बड़ी चतुर है। ऊपरसे तो सीधी बनी रहती है; पर, भीतर अभिमानिनी है। उसके चेहरेपर मेरे लिए अवज्ञा लिखी रहती है।

इन्द्र—अवज्ञा तो ठीक नहीं है। तुम प्रमुख हो, तब तुम्हारा आदर सबको करना चाहिए।

बुद्धि—आदरकी भली कही। धृति तो मुझसे बोलती तक नहीं।

इन्द्र—अच्छा, मैं धृतिको यहीं बुलाता हूँ। बुलाऊँ?

बुद्धि—हाँ बुलाइए। देखिए कि मैं उसको कायल करती हूँ कि नहीं।

धृति बुलाई गई।

इन्द्रने पूछा—क्यों धृति, यह क्या बात मैं सुनता हूँ। अनबन रखना किसीको शोभा नहीं देता। यह बुद्धि कह रही है कि तुम उनको प्रमुख नहीं मानती हो और उनकी अवज्ञा करती हो?

धृतिने गर्दन नीची करके कहा—मैंने कभी कुछ कहा हो तो यह बतावें। मुझे तो वैसे भी बोलना कम आता है।

बुद्धि—धृति, सबके सामने बनो नहीं। बिना बोले क्या अवज्ञा नहीं हो सकती? मैं जानती हूँ, तुम मुझे कुछ नहीं समझतीं।

धृति—मैंने तो कभी ऐसा नहीं कहा। न कभी ऐसा मनमें लाई। आपकी अवज्ञा मैं किस बलपर करूँगी?

बुद्धि—बड़ी मीठी बनती हो! लेकिन मुझे छल नहीं सकतीं। उस रोज़ मुझे देखकर तुमने क्यों धीरेसे मुसकराया था? मैं नाराज़ हो रही थी, और तुम मुसकरा रही थीं! क्या यह मेरा अपमान नहीं है?

धृति—आप ऐसी आज्ञा प्रकट कर दें, तो मैं अबसे मुसकराऊँगी भी नहीं। अभी मुझे यह पता नहीं दिया गया कि मुसकराना नहीं चाहिए।

बुद्धि—मेरे क्रोधपर तुम हँसोगी? फिर भी इतनी हिम्मत कि कहो कि मालूम नहीं कि ऐसा हँसना बुरा होता है! इन्द्रजी, देखी आपने इसकी धृष्टता!

इन्द्रने कहा—धृति, इनको प्रमुख बनाया गया है तो इनका मान रखना चाहिए और इनकी आज्ञा माननी चाहिए।

धृति—मैं तो सब-कुछ मानती आई हूँ। और भी जो आप और यह कहेंगीं, मैं मानूँगी। मुझे तो इनसे किसी तरहकी शिकायत नहीं है।

बुद्धि—शिकायत तुम्हें क्यों होगी? दोष भी करो और शिकायत भी हो?

धृति—मैं मानती हूँ, मुझसे दोष हुआ होगा। दोष न होता तो मुझसे यह अप्रसन्न न रहतीं।

बुद्धि—क्यों यहाँ इन्द्रजीके सामने चतुराई चलती हो? ऐसे बोलती हो, जैसे बड़ी भोली हो।

धृति—मैं अपने कसूरके लिए क्षमा माँगती हूँ।

यह कहकर धृति नीची गर्दन करके हाथ जोड़कर बुद्धिसे क्षमाकी याचना करने लगी।

बुद्धिने कहा—देखिए इन्द्रजी, मैंने बहुत सहा। अब मेरे सहनेकी सीमा आ गई है। धृतिका कपट-व्यवहार अब मुझसे सहा नहीं जाता। मैं आपसे कहती हूँ कि या तो स्वर्गसे उसे निकाल दीजिए, नहीं तो फिर मुझे ही छुट्टी दीजिए।

यह सुनकर इन्द्र असमंजसमें पड़ गये। बोले—बताओ धृति, मैं अब क्या करूँ?

धृति—अपराध मेरा ही रहा होगा। मुझे आप स्वर्गसे निकाल दीजिए।

इन्द्र—यह बड़े खेद और लज्जाकी बात है, धृति! स्वर्गमें आकर अभी तक तो किसीने बाहर नहीं जाना चाहा है। यह तुम दोनों क्या बखेड़ा खड़ा कर बैठी

हो !—बुद्धि, तुम प्रमुख ठहरीं। कुछ बेजा देखो, तो दयासे काम ले सकती हो।—धृति, तुमको अपने कर्तव्यका ध्यान रखना चाहिए।—जाओ, अब दोनों शान्तिसे रहना। स्वर्ग बहुत बड़ा है, और यहाँ बताओ क्या नहीं है। सुना ? अब कोई शिकायत सुननेमें न आवे।

बुद्धि—इन्द्रजी, आप मुझे क्या समझते हैं ? धृति बच्ची होगी, मैं बच्ची नहीं हूँ। मैं बुद्धि हूँ। जहाँ रहूँगी, इज्जतके साथ रहूँगी। इज्जत नहीं, तो स्वर्ग क्यों न हो, मुझे नहीं चाहिए।

इन्द्र—बुद्धि, तुम अ-स्थान भटक रही थीं। स्वामी महादेवकी सिफारिशपर हमने तुम्हें यहाँ स्वर्गमें यह पद दिया। हम जानते हैं कि तुम सब अप्सराओंसे योग्य हो। लेकिन स्वर्गसे सहसा गिरकर तुम इतनी मुद्दत मर्त्यलोकमें रहीं कि स्वर्गकी प्रकृति तुमको याद नहीं रही प्रतीत होती है। स्वर्गमें विभेद मत फैलाओ। जैसी शान्ति थी, वैसी रहने दो।

बुद्धि—मैं शान्ति तोड़ती हूँ !—मैं विभेद फैलाती हूँ ! साफ आप क्यों नहीं कहते कि धृतिका पक्ष आप लेना चाहते हैं !

इन्द्र—नहीं बुद्धि, ऐसा नहीं है। तुम स्वर्गकी न सही, फिर भी स्वर्गमें अद्वितीय हो। तुम मर्त्यलोककी भी द्युति हो। तुम वहाँकी मणि हो। महादेवजीने जब तुम्हें देखा, तो मुग्ध हुए बिना नहीं रह सके। उन्हें करुणा भी आई। तुम्हारे तेजका उपयोग देख यहाँ ले आये और यहाँ स्वर्गकी अप्सराओंका तुम्हें प्रमुख पद मिला। बुद्धि, मुझे तुममें भरोसा है। जाओ, धृति बेचारी अबोधा है। यह अबसे कुछ कसूर नहीं करेगी।—क्यों धृति, बुद्धिसे बुद्धि सीखो।

धृति—मैं अपने कामसे काम रखूँगी और कभी इनको शिकायतका मौका नहीं दूँगी।

बुद्धि—सच कहती हो ?

धृति—हाँ, सच कहती हूँ।

बुद्धि—और मुझसे बुद्धि सीखोगी ?

धृति—वह सीखनेकी तो मुझमें योग्यता भी नहीं है।

बुद्धि हँस आई। बोली—और अबके दोष हुआ तो दंडके लिए तैयार रहोगी ?

धृति—रहूँगी।

बुद्धि—याद रखना, अबके तुम घमंडकी चाल चलीं तो यहाँसे निकाल दी जाओगी !

धृति यह सुनकर नीची गर्दन किये खड़ी रही। इसपर इन्द्रने कहा—बुद्धि, धृति बेचारी अदना है। उसका तुम ख़याल न करो। उससे ठीक बोलना तक भी नहीं आता। थोड़ा बोलती है तो लजा जाती है। वह तुम्हारे रोषके लायक नहीं है। उससे बराबरी मत ठानो। धृति, चलो, बुद्धिके पैरोंमें पड़ो।

धृति सुनकर चुपचाप बुद्धिके पैरोंमें पड़ गई। इसपर बुद्धिने कहा—धृति, समझ लिया न। कहती होगी कि यह बुद्धि तो स्वर्गकी नहीं है, जाने किस नर-लोककी है और अमर नहीं है। लेकिन, अब देख लिया न कि मैं क्या हूँ। अच्छा जाओ, अब अपना काम देखो।

धृति इसपर वहाँसे अपना नीचा मुँह किये चली गई। उसके चले जानेके बाद बुद्धिने कहा—इन्द्रजी, आपके इस स्वर्गमें अभी बहुत-कुछ सुधारकी आवश्यकता है। मिसालके तौरपर यहाँ दूध और शहदकी जो खिलखिलाती स्रोतस्विनियाँ हैं, वे जहाँ तहाँ बहती रहतीं हैं। बाँध बाँधकर उन्हें अधिक उपयोगी बनानेकी आवश्यकता है। और यह क्या मतलब है कि जो अच्छा करे, उसे भी भरपूर खानेको मिले और जो कसूर करे, उसके भी खानेमें कमी न आये। चारों ओर इस अनायास सुखकी आवश्यकता नहीं है। जबतक दंड नहीं होगा तबतक सु-शासन नहीं हो सकता। और सुनिए। पतिव्रत धर्म यहाँ नहीं है, न एकपत्नीव्रत धर्म है। इस विषयमें नियमहीनता लज्जाजनक है। मैं सब जगह नियमितता पसंन्द करती हूँ। सोच रही हूँ कि स्वर्गके लिए एक विधान तैयार करूँ, ताकि स्वर्गका संचालन नियमानुकूल हो।

इन्द्र—जो उचित समझती हो करो, बुद्धि। मैं किसी और विधानके बारेमें नहीं जानता हूँ। विधि-विधानसे ही शायद स्वर्ग स्वर्ग है। शेष तुम जानो। मुझे तो अपनी पात्रतासे अधिक बुद्धि मिली नहीं। फिर स्वर्गका कर्ता तो मैं नहीं हूँ। वह तो ब्रह्माजी हैं। उनसे मिलकर इस स्वर्गको जैसे चाहे बदल सकती हो। मेरा अपना अधिकार कुछ नहीं है। मुझे तो यही याद नहीं रहता कि मैं इन्द्र हूँ। तुम लोगोंमें कभी कुछ बिगड़ जाती है तभी मुझे अपना इन्द्रपनका पता चलता है। नहीं तो मैं तो तुम सभीमेंका एक हूँ। और एक सच्ची बात कहूँ, बुद्धि ! उसे अन्यथा न समझना। और वह यह है कि स्वर्गकी सब अप्सराएँ तुम्हारे आगे

मात हैं। तुम सबसे कम सुन्दरी हो। तुममें सौष्ठव नहीं है, भव्यता नहीं है, आर्जव नहीं है। फिर भी तुम अपने ही रूपसे ऐसी रूपसी हो कि स्वर्गका सात्त्विक सौन्दर्य हेच मालूम होने लगता है।—बुद्धि, तभी तो मन हो आता है कि शचीको छोड़ मैं तुम्हारा दास हो जाऊँ।

यह कहकर इन्द्र मन्द मन्द हँसने लगे। बुद्धि लाजमें किंचित् अरुण पड़ आई। व्रीडाग्रस्त हो कहने लगी—आप ऐसा कहेंगे तो मैं महेशके पास शिकायत पहुँचा दूँगी ! मैं चिर-कुमारी रहनेकी शर्त्तपर यहाँ आई हूँ !

इन्द्र—अपने चिर-कौमार्य व्रतके विषयमें तुमने महादेव महेशसे भी सम्मति प्राप्त की है ?

बुद्धि—आपको महेशजीसे क्या ? वह तो देवोंके देव हैं। वह निस्संग हैं।

इन्द्र हँसते हुए बोले कि महादेवजी मर्त्यलोकके प्रति कैसे निस्संग हैं, यह तो हमको ज्ञात नहीं। पर हम स्वर्ग-वासियोंसे उनका हँसी-मज़ाक सब चलता है। तुम घबराओ नहीं।

बुद्धि इस सान्त्वनापर एकदम नाराज़ हो आई और झपट्टेमें वहाँसे चली गई। इन्द्र अकेले रहकर मुस्कराने लगे।

उसने कहा—अरे विद्याधर, तुम क्या क्या कह रहे हो। अरे, मुझे बढ़ावा मत दो, मुझे तो शान्ति दो।

मैंने तब कहा—मुझे तुम क्या दिखाना चाहते थे। दिखाओ तो...।

उसे जैसे टूटा सिलसिला याद आ गया। वह गया, बक्समेंसे कागज़ निकाले, बक्सको फिर वहीं रख दिया, और मेरे पास आ गया। कहा—ये उसकी चिठ्ठियाँ हैं। देखकर बताओ, मैं क्या करूँ?

मैंने एकको देख लिया, दोको देख लिया, तीनको देख लिया। फिर सब बंद करके रख दीं।

पूछा—तुमने कुछ नहीं लिखा?

शंकर—लाचार होकर लिखा। पहली तीन चिठ्ठियाँ उसकी थीं।

मैं—तुम्हारे पत्र प्रेमपत्र नहीं थे?—

शंकर—कैसे हो सकते थे!

मैं—उन्हें जला दो।

शंकर—जला दूँ?

मैं—किताबोंकी जूठन उनमें बहुत है। हृदयके पत्र होते तो रखनेके लिए मैं माँग लेता। अब उनका उपयोग कुछ नहीं है।

शंकर—लेकिन जला दूँ...!

मैं—जलाना इसलिए आवश्यक है कि ऐसा न हो कि कभी वह बाला उन्हें देखे, और लज्जित हो।

शंकर—इससे सब कुछ निबट जायगा?

मैं—नहीं, सब कुछ नहीं निबट जायगा। तुम अपनी पत्नीसे मिलो। एक एक बात उससे कह दो। ऐसे कहो कि उसमें यह ध्वनि तनिक न हो कि दूसरे पक्षका दोष है। और, यह मुझसे सुनो कि दूसरे पक्षका दोष नहीं है।

शंकर—क्या–आ?

मैं—दोषका तनिक भी भाग तुम्हारा मन दूसरे पक्षपर जब तक टाले, समझो कि मन अनुकूल नहीं है। वह स्थिति आनी चाहिए कि अनुभव हो, जगत्के प्रति मैं ऋणी हूँ, मैं अपराधी हूँ। जगत्को दोष देकर छुटकारा नहीं मिलेगा। छुटकारेके लिए, सब बातके लिए अपनी ओर देखना होगा।

शंकर—किन्तु, मैं कह कैसे सकता हूँ? स्त्रीको यह कहूँ?

मैं—हाँ, स्त्रीको यह कहो। स्त्रीसे न कहकर कहाँ जाओगे? स्त्रीसे अधिक अभिन्न, अधिक निकट, मुझे या और किसीको बना सकनेकी आशामें मत रहो। उससे न कहोगे जिसके साथ अभिन्न-जीवन होकर रहनेकी प्रतिज्ञा समाजके, अपने और परमात्माके सामने लेकर, घर बनानेका अधिकार और आशा पाकर, आज यहाँ बैठे हो? और यह भी समझो कि आज चाहनेपर भी घर तोड़नेका हक तुम्हारे अकलेके पास नहीं है। दोनों मिलकर यह कर सकते हो; पर, टूटे घर बने नहीं हैं।

शंकर—पर वह क्या समझेगी?

मैं—जो भी समझे, वह समझना आवश्यक है। तुम्हारी ओरसे कुछ सुनकर समझना उससे कहीं कम भयावह और कहीं अधिक श्रेयस्कर है, जो वह अपनी खोजसे जानकर समझेगी। क्या तुम उस अनिष्टको चाहते हो?

शंकर—यह भी तो संभव है कि मेरे संबंधमें उसमें वह उपेक्षा और दुर्भावना पैदा हो जाय जो मुझपरसे उसका अंकुश ही उठा दे। तब निरंकुश होकर वह चलनेके मार्गमें क्या रुकावट रह जायगी!

मैं—हाँ, यह संभव है। यह खतरा तुम्हें उठाना होगा। केवल तुम्हारी सत्प्रेरणापर तुम्हारा अवलंब होगा। बाहरी हर किसी अंकुशके अभावमें तुम्हें निरंकुश न होना सीखना होगा। पतिके सम्मानकी अब तुम्हें चिन्ता है। उसे मैं कहता हूँ, खो दो। पतिकी सम्मान-रक्षा मनुष्यकी सम्मान-रक्षाके प्रतिकूल नहीं है। और, फिर सम्मान-रक्षासे बड़ी आत्म-रक्षा है। सत्य-रूप आत्माकी रक्षामें जो सम्मान खोया जाता है वह खोये जाने लायक है।

शंकर—तो मैं यह करूँ? मैं कर सकूँगा?

मैं—हाँ, जरूर करो और जरूर कर सकोगे। और, उस लड़कीसे मिलना बंद न करो। छिपकर कभी न मिलो। इस प्रकार मिले बिना न रहा जाय तो कुछ चारा नहीं; किन्तु, पत्नीपर प्रकट कर दो। और दिलसे दूर निकालो कि वह सुन्दर नहीं है, योग्य नहीं है। वह सुन्दर है, और तुम्हारे आदरयोग्य है। प्रेमकी अपूर्णतामेंसे यह कदर्य भाव निकलते हैं,—असुन्दर और अनादृत। सहसा अपने निकट उसे आदरहीन मत बनाओ। और, अपनेको आदरहीन मत बनने दो। एक दूसरेमें श्रद्धा, समादर, सम्मानका भाव रखना आरम्भ करोगे तो वासना लुप्त होने लगेगी। अपने प्रेमको कम न करो। प्रेम धर्म है।

प्रेममें मोक्ष है। बंधन प्रेम तोड़नेमें है। किन्तु, प्रेम वह नहीं जिसका आधार घृणा हो, और जिसका परिणाम ग्लानि हो। क्या अपने प्रेम-पात्रके सम्बन्धमें घृणासे मुक्त नहीं हो सकते ? उससे मुक्त हो जाओगे, तो प्रेम सात्त्विक होगा। और प्रेम-पात्रको घृणा करते जाना,—छिः, कैसी लज्जा-जनक बात है ! बस यही तुम्हें करना है। अपने प्रेमको इतना सम्पूर्ण बना लेना है कि घृणाको अवकाश न रहे। और, एक बात और है। पत्नीको पत्नी न समझो, बच्चोंकी माता (अथवा भावी माता) समझो। अर्थात् मान रक्खो कि उसका अपना व्यक्तित्व है। तुम्हारा उतना ही अधिकार उसपर है जितने तुम उसके प्रति समर्पित हो। इस तरह उसे प्राप्त करके भी तुम उसे अपने लिये प्राप्य बना सकते हो। उसमें कुछ न कुछ अप्राप्त शेष रहने दो और कुछ न कुछ अप्राप्यकी झाँकी उसमें पाते जाओ। तब तुम्हारा प्रेम शिथिल न होगा और कभी किसी और नये आधारकी उसे चाह न होगी।

शंकर—भाई, मैं तुम्हारी बात मानूँगा। देखूँगा।

३

किन्तु, सरल ही कठिन है। हम जीवनको ऐसा बना बैठे हैं कि सर्वातर्गत आत्मगत सत्य व्यवहारके लिए असंगत और विदेशी हो पड़ा है। छलमेंसे बाहर आकर जलसे निकली मीनकी तरह हम अपनेको अशांत, निष्प्राण, निस्सहाय अनुभव करते हैं। हमारे लिये जीवनके व्यापार छलमें रहकर ही संभव बनते हैं। जो निश्छल होकर रहना चाहे, हमें लगता है, उसके लिए यही गति है कि वह निर्वाणके ध्यानमें जंगलमें जा रहे; दुनियामें उसे जगह नहीं। तभी हमारी समस्याएँ बढ़ती हैं; जीवन आजीवन एक उलझन बना रहता है। मौत तब समाप्तिकी भाँति आकर अच्छा ही करती है।

पाँच रोज बाद शंकर घर आया। मुँह फीका था और वह दीन बना था। उसे दीन बननेकी क्या आवश्यकता थी ? कमाता था, खाता था, दो आदमियोंमें संभ्रान्त गिना जाता था, और पास गाँठकी अक्ल भी कम नहीं थी। पर वही फीका, दीन, प्रार्थी बना हुआ-सा, देखा, मेरे पास आ रहा है। मैंने कहा—कहो शंकर...

बोला—मैंने बहुत कोशिश की। स्त्रीसे पूरी पूरी बात खुलकर किसी भाँति नहीं कह सका। हाँ, बहुत कुछ कह दिया है। पर, उसकी तो उदासीनता

अगाध है। उसे किसी तरहका अविश्वास, या किसी तरहका विश्वास, नहीं होता। तत्संबंधी दिलचस्पीकी आवश्यकता ही उसमें नहीं उपजती। क्या परिणाम हुआ है इसका, जानते हो? सर्वनाशके इतने निकट मैं खिच आया हूँ कि वह किसी घड़ी सिरपर फूट सकता है!

मैंने कहा—घबराओ मत...

बीचमेंहीमें चोट खाकर वह बोला—घबराऊँ नहीं, यह तुम कहते हो? तुमको मालूम है, इस बीच मैंने तीन चिट्ठियाँ और पाई हैं, और दो बार मुलाक़ात हो गई है। मैं उन्हें नष्ट नहीं कर सका। नष्ट कर देनेमें उन्हें एक क्षण लगता है।...और, उनके रहने देनेमें हर्ज क्या था? वे मेरा क्या बिगाड़ सकती थीं? मैंने सोचा, जब चाहूँगा जला दूँगा, फिर मुझे जल्दी किस बातकी है? मैंने यह तै कर लिया और मैं उन्हें नहीं जला पाया...और तुम कहते हो घबराऊँ नहीं!...तुम जानते हो, क्या? अरे हम इतने बढ़ आये हैं कि अगला क़दम, और नाश। सामने और कुछ नहीं रह गया है और राहमेंका सब कुछ हमने तोड़ दिया है और हम खिंचे जा रहे हैं। क़दम हम न रखें, तो भी मालूम होता है, रखना होगा। मुड़नेका स्थान नहीं है। लंगर पीछे जाने कहाँ छूट गया है और अब आँखके नीचे आवर्त है जिसमें हम गिरेंगे और जो हमें निगल जायगा। और तुमने कहा था, मैं मिलना बंद न करूँ। और कहते हो, मैं घबराऊँ नहीं। घबराऊँ नहीं, तो बताओ, क्या करूँ? तुम्हीं बताओगे, क्यों कि तुमने ही सब कुछ होने दिया है। मैं भाग रहा था, तुमने कहा, पीछे भागो मत, सामने आगे बढ़ो। आगे महाकालका खुला मुँह है इसीसे अरे, तुमने कहा था न कि आगे बढ़ूँ। तुमने मेरे साथ यह भयंकर उपहास, निठुर, क्या समझ कर किया था? मैं तुम्हारे पास आया हूँ और जल रहा हूँ। मुझे जलानेकी बात न करो। ठीक बात करो।

कहकर वह पहलेकी भाँति निस्तेज हो पड़ा।

मैंने कहा—तुमने आरम्भमें मैल जमने दिया। प्रेम स्वच्छ है। सामाजिक सदाचारकी सँकरी और विषम मान्यताओंमें उसका प्रवाह रुका। रुकता रहा, रुकता रहा, बँधे पानीकी नाईं उसमें बास पैदा हो गई। मैल जम गया। वह उन मान्यताओंके शरीरमें व्याप गया। हृदयका सेवन उसे मिला तो कसक देकर पीब बन उठी। तमाम शरीरकी मलिनता उसी एक बिन्दुकी ओर खिंच कर संचित होती

रही। फोड़ा हो गया। अब पका है, मीठी मीठी चसक देता है, पीर देता है। उसके फूट जानेमें ही अब कुशल है। उसे फूटने दो। और स्वास्थ्य-लाभ करो।

शंकर—क्या विद्रूप परिहास करते हो! जानते हो, क्या कह रहे हो? उसका कौमार्य खंडित हुआ तो मैं कभी स्वस्थ हो सकूँगा? और तुम कभी अपनेको और मुझे क्षमा कर सकोगे? सँभल कर बात करो...।

मैं—कौन अपना कौमार्य अखंडित चाहता है?

शंकर अत्यधिक त्रस्त हो आया और बोला—विद्याधर!

मानो मैंने उसकी आत्मापर पाँव रख दिया है। किंतु, दैन्य मानवका कब धर्म है! कातरताको कुचले बिना मनुष्यके लिए जय कहाँ है! मनुष्यके भीतर जो क्षुद्र है, वह भीरु है। विराट् उसीको पददलित करके खड़ा होगा और आवाहन देगा कि ओ धीर, क्लैव्य तज, दुर्बलता छोड़, धर्म पहचान और वीर बन युद्धमें खड़ा हो जा।

मैंने कहा—तुम समझते हो कि जिसे तुम कौमार्य कहते हो, उसके खंडित हो जानेपर, उस बालाके प्रति सब सम्मान मेरे हृदयमेंसे नष्ट हो जायगा? या तुमसे मित्रता तक तब मैं न रख सकूँगा? नहीं, मैं ऐसा दंभी नहीं हूँ। इसीलिए बेलाग बात कह देता हूँ। तुम मुझसे सुन लो, मानो चाहे न मानो, कि जो रुका है, उसे मार्ग देना होगा। न दोगे, वह खुद बना लेगा। दूसरी बात भयंकर होगी। तब तुम दुष्ट होकर ही दम ले पाओगे, या ढोंगी होकर जिओगे। तुम अपना अस्तित्व खोकर हठात् बहोगे, और बहोगे। त्राण पहले मार्गमें ही है। सत्कामना तुम्हारे भीतर है, तो क्यों नहीं तुम अपनी पत्नीके चरणोंमें आँसू बहाकर अपनेको खाली कर लेते? नहीं तो जो वेग बंद है, ऐसा फूट कर बाहर बह जायगा कि तुम खोखले रह जाओगे। मेरे पास तुम्हारी तरह उस अबोधा किशोरिकाके हृदयका कुछ भी स्नेह और अधिकार होता, तो मैं कहता, 'बेटा, तुम अपनेको लेकर संकटमें हो। डर रही हो; क्योंकि, चोरीपर लाचार हो। चलो, जिसकी चोरी करती हो, उससे कह दो, बहन, तुम्हारे घरमें सेंध लगाकर चोरी करने मैं घुस आई हूँ। अब अपनेको तुम्हारे हाथों पकड़ाये दे रही हूँ। तुम मेरे सम्बन्धमें आगे भी सावधान रहना।'...और, यह नहीं कर सकते, तो मैं कहता हूँ, जिसे नाश, सर्वनाश, महानाश कहकर डर रहे हो और डरा रहे हो, उस भूतको ऐसा समझकर देख

लो कि साधारण-सा दिखाई पड़ने लगे। होनहारमेंसे गुज़रकर मनकी स्थिरता सदाके लिए नष्ट मत समझ लो और बना लो। जो आ ही जायगा, उसे आ जाने दो, और आकर गुज़र जाने दो,—फिर सोच-सोचकर मुर्दे-सा भारी अपनेको मत बनाओ। हलके होकर सचाईके मार्गपर सहज भावसे चल दो।

किंतु शंकरको ढाढस नहीं हुआ। द्वन्द्वसे उसे प्रेम था। सत्यसे अभी भय था। जिस भँवरमें खिंचा जा रहा है, उसे देखते दहलता था, देखने तकका सामर्थ्य गँवा बैठा था। दहशत मिटनी ही चाहिए, इसीसे विराट्, भीष्म, और भयंकरके प्रति आकर्षणकी अनिवार्यता है। आकर्षणका प्रयोजन दोनों ओर समभावयुक्त निर्भीकताको सम्पन्न करना है। उसी आकर्षणके वशीभूत होकर अयुक्त उग्रतासे उसने कहा कि कभी वह विनाशकी घड़ी न आने देगा, उससे पहले ही अपनेको तोड़कर दूर कर लेगा, ओझल हो जायगा, परस्पर सन्देश तककी सम्भावनाको असम्भव बना लेगा; दूसरा मकान ले लेगा; हो, तो मिट जायगा,—नहीं, यह कालिख नहीं लगने देगा।

ऐसी ही उग्र स्थितिमें वह मुझसे विदा ले गया।

४

अगले सप्ताह उसका पत्र मिला।

“ भाई, कुछ दिनों मैं मुँह छिपाने कहीं बाहर जा रहा हूँ। आत्महत्या नहीं करूँगा। सब कुछ ऐसे हो गया है कि आत्मघात संभव नहीं रह गया। मैं उसे समझनेमें समय लगाऊँगा।

...अपनी श्रेणीमें संगीतमें प्रथम रही हैं। एक नाटक भी कन्या-विद्यालयमें हुआ था। अभिनय-कौशलमें उन्होंने पदक पाया है। बाजा ऊपर हमेशासे अधिक बजता है। पत्र बहुत आने लगे हैं।

अरे, मैं क्या करूँ? मुझसे दुनियाका मुँह नहीं देखा जाता। दुनिया जाने कैसे हँसती है! और बाजेके पाससे भी कभी हँसी आती है,—वह जाने कैसे हँसती है?

मैं नहीं रह सकता। हँसी सीखूँगा, तब आऊँगा।

तुम्हें यह नहीं मालूम कि पहले पत्र सब खो गये। किसीने ले लिये। किसकी उनकी भूल थी? लेकिन मुझे उनकी चिन्ता नहीं है। फिर भी डर है, कहीं भी...के पास तो नहीं पहुँच गये। पर डर व्यर्थ है। उस ओरसे भी मेरे जीमें

चैन नहीं है। कालिख पोतकर एक दिन सोचा था, कहूँ, कि देखो, सुनो, मैं काला हूँ। मैं तुम्हें सब सुनाकर अच्छी तरह बताता हूँ कि मैं कितना काला हूँ। तब मनमें कुछ ज्योति-सी जगी थी। पर जगी नहीं कि बुझ गई। ऐसी जमी उपेक्षासे उसने मुझे लिया कि मैं काठ हो रहा। मनकी आग भीतर राख ओढ़कर रह गई। वह मानो कहना चाहती थी, 'तुम कुछ हो,—मैं नहीं माँगती। मुझे रहने दो, मरने दो। अरे छोड़ो, मरने तो चुपचाप मुझे दो।'

सो मैं जा रहा हूँ। तुम्हें याद कर सकनेकी आज्ञा चाहता हूँ।

तुम्हारा—शंकर।"

५

मैं तो सब कुछ भूल जाता, क्यों कि छः महीनका काल पर्याप्त होता है, कि अचानक शंकरका कार्ड मिला। लिखा था—

"...मैं लौट रहा हूँ। किसी अजान हितैषीने लिखा, पत्नी विपथगा हैं। मुझे भूल जानेकी सुविधा चाहती हैं, छुट्टी चाहती हैं। मैं लौट रहा हूँ कि कहूँ, तुम्हें पूरी छुट्टी है, सब हक़ है। किन्तु मुझे अपना अनन्य सेवक बना रहने दो, जो कुछ न कहेगा।

...का विवाह भी सुना है। उनके चरन छूनेकी साध भी मिटाना चाहता हूँ। तुमसे मिलूँगा। —शंकर।"

और उसी दिन एक और भी पत्र मिला—

" श्रीमन्,

आपको पत्र लिखता हूँ, क्योंकि आप बाबू शंकरदयालजीके मित्र हैं, और मैं शंकरदयालजीके प्रति अपराधी हूँ। उन्हें सीधे लिखनेका साहस मुझमें नहीं है। आपने मुझे देखा है। क्या उस कुरूप, कुचाल, मैले, अधपढ़ और कम सुनने-वाले क्लर्ककी आप याद कर सकते हैं, जो, जब आप बाबू शंकरलालजीके यहाँ पधारा करते थे, वाचाल होकर अपनी दो-चार पंक्तियाँ हठात् आपको सुना दिया करता था? आप कह देते थे, 'अच्छी हैं' और वह सोचता था, क्यों यह कृपा करके कहते हैं, 'अच्छी हैं,' क्यों नहीं खुलकर कह देते कि किसी कामकी नहीं हैं, जैसे कि अपने मित्रसे कह देते होंगे। क्यों मैं इनकी कृपाका

पात्र हूँ, और क्यों मैं इनकी मित्रता और बराबरीका पात्र नहीं हूँ ? और उसी समय बा० शंकरदयाल कहते, 'सुनो, अच्छी है ? सुन लिया न ?—अब चलो, अपना काम करो। वह पार्सल सिओ।' मैं पार्सल सीने लगता था, क्योंकि मुझे चालीसवें रोज बारह रुपये मिलते थे। और कविताको मोड़कर अंटीमें छिपा लेता था, क्योंकि पार्सल-घर अभी जाना होगा, और कविता जब आप फिर आयँगे तभी जाकर सुनाना होगा। अब आपको याद आ गया होगा। उसीने बा० शंकरदयालजीके नामके कुछ प्रेम-पत्र चुराये और वही मैं हूँ। शुरूमें इच्छा थी, कि जानूँ किसने लिखे हैं। पर अब वैसी उत्सुकता नहीं है। अब तो मैं यह मानकर रह रहा हूँ कि ये मेरे प्रति लिखे गये हैं और जिसने लिखे हैं, वह मेरी रानी है। यह पत्र आपको मैं इसलिए लिख रहा हूँ कि मैं अपराधकी क्षमा चाहता हूँ, और कि आप मुझे विश्वास दिला सकें, ये पत्र अब मुझसे न छिनेंगे। मेरा वह सर्वस्व हैं, और उनके कारण किसीका अहित न होगा। बा० शंकरदयालजी चाहें ही, तो, उनकी प्रतिलिपि मैं अपने हाथसे बहुत सुन्दर अक्षरोंमें करके, उन्हें भेज सकता हूँ। किन्तु वह सपना है, ऐसे जितने पत्र चाहें उन्हें मिल सकते हैं। मुझे, आप ही सोचें, कौन पूछता है। चोरीका पाप उठाकर जो मैंने पाये हैं, और जिन्हें निरन्तर इन छः महीनोंके पाठसे मैंने अपना बना लिया है; और जो मेरी रानीके हाथके हैं—और जिनमें वह मेरी रानी कभी मुझे हँसती, कभी रोती, कभी मुझे चूमती दर्शन देती है—आपका चिरायु कृतज्ञ रहूँगा, वह पत्र मेरे पास रहने देनेकी उनसे आज्ञा ले लें—आपका भगवान भला करेगा।

जी, मुझसे यह मत पूछिएगा, मैंने क्यों चुराये। कुछ होता है जो हो जाता है, कारण-कार्यका भाव जोड़कर उसे किसी तरह बताया नहीं जा सकता। बाबू शंकरदयालजी अकेलेमें एक दिन एक पत्र पढ़ रहे थे। मेरा कामसे कमरेमें जाना हुआ, तो उन्होंने जल्दीसे उसे कापीमें कर लिया। मुझसे क्या डर था ? पर, वस्तु ही ऐसी मर्मके भीतर छिपाकर रखनेकी होगी। उस दिन पाँच-छः बार मुझे उस कमरेमें जाना पड़ा। हर बार मैंने उन्हें कुछ कापीमें छिपाते हुए पाया।... जी, मैं तेईस बरसका हूँ। बारह बरसकी उमरसे परदेसमें और परदेसियोंके बीचमें अकेला रहा हूँ। किसीने मुझे नहीं पूछा, और, मैं पूछे जानेके लिए तरसता रहा।...जी, जी हरेकमें होता है। मैं सोचता हूँ, क्यों होता है ? विधाता क्यों हमें बिना उसके नहीं बना देता, कि हम दर्द मिटा नहीं सकते, तो उसे

अनुभव किये बिना तो रहें।...जब साँझ डूबती होती थी, और सड़ककी बत्तियाँ जल जातीं, और नेक कामसे चैन पाकर मैं ऊपर देखता, ऊपर तारे निकलते होते, और बाहर लोग खुश-खुश इधरसे आ रहे होते और उधर चले जा रहे होते; और उनमें स्त्रियाँ भी होतीं; स्त्रियाँ! जिन्हें रोज ऐसे देखता जैसे सपने देखता हूँ, जिनमें स्पर्श नहीं, सौरभ है, वह भी जाने है या नहीं: और देखता, वे व्यस्त हैं, मैं मैला हूँ; वे मिल जुलकर आ-जा और हंस बोल रही हैं और मैं अकेला हूँ; इन अनगिनत तारोंके नीचे और असंख्य जनोंके बीचमें मैं एक हूँ, अकेला हूँ; तब होता, मैं क्यों अकेला हूँ? जीमें होता, क्यों नहीं मेरे पास भी कुछ है, जिसे झट दौड़कर चुंगीकी बत्तीकी रोशनीमें मैं खोल देखूँ, जिसे दूसरोंकी आँखोंसे बार बार मैं भी छिपाऊँ, और अपनी आँखोंके लिए बार-बार प्रकट करूँ; जिसे सदा अपनी भीतरी जाकटकी उस जेबमें रखूँ, जिसके नीचे छाती हर-घड़ी धुक्-धुक् करती है, और अकेला होऊँ कि पढ़ लिया करूँ। जी ऐसी ही कल्पनाओंको लेकर रोया करता था।...सो जब बाबूजीको देखा, मन एक संकल्पसे भर-सा आया। मैं चोरी कभी कर सकता था? पर यह चोरी मुझे चोरी नहीं लगी। पन्द्रह दिन उसमें लगाये।...किन्तु, चित्त दुखता ही रहा, और आज, जी, मैं लिख रहा हूँ, और माफी माँग रहा हूँ। आप सब लोग मुझे माफ कर दें। मेरा प्रणाम।

विनयावनत—रामदीन"

६

दोनों पत्र मैंने पाये, और सोचा, सब ठीक है। अब सब ठीक है। इसलिए तब सब ठीक था।

दुर्घटना

मौसम सुहावना है और हरीश टहलता हुआ अपने घर जा रहा है। वह इस समय अपनेसे प्रसन्न है। छड़ी हाथमें घूम रही है और क़दम कुछ तेज़ पड़ रहे हैं।

हरीश विश्वविद्यालयमें दर्शन-शास्त्रका अध्यापक है। उसने अपने रहनेका घर कालेजसे जरा दूर लिया है कि आते-जाते कुछ पैदल चलना मिल जाय। उसकी राहमें बस्ती ज्यादा नहीं पड़ती, खुला मैदान ही पड़ता है। इस समय वह खुली-फैली धरती घाससे हरी-भरी है और कुछ भीगी है। ऊपर बादल हैं। हवा कम है। जितनी चाहिए सर्दी उससे अधिक नहीं है। और ऐसे समय उस खुले मैदानके बीचोंबीच जाती हुई सड़कपर चलते हुए वह अपने-आपको अप्रिय नहीं लग रहा है, न कुछ और ही उसे अप्रिय लग रहा है। कभी सड़कपरसे मोटर भागती हुई निकल जाती है। इक्का-दुक्का आदमी भी दीखते हैं। मामूली तौरपर इंसान उसे अच्छा नहीं लगता, और मोटर और भी वाहियात मालूम होती है। पर आज इस समय उसके निकट मानो कुछ अयुक्त नहीं है। मोटर भी ठीक है, उसका भागता रहना भी ठीक है और दो टाँगसे चलनेवाला अहंकारी आदमी भी इस दुनियामें मानो एकदम ग़लत नहीं है।

बहुत-सी बात इस हरीशकी समझमें नहीं आती। पहले तो उसे अपना मतलब ही नहीं समझमें आता। वह देखता है कि अपनी राज़ीसे उसने जीना आरम्भ नहीं किया। जाने किसका भेजा हुआ वह इस दुनियामें है। ख़ैर, जब जीना अकारण शुरू हो गया, तब तो उसमें इस बातकी समझ न थी। पर अब जब कि समझ-जैसी चीज़ भी उसमें हो चली है, वह जानना चाहता है कि वह क्यों जी रहा है। वह देखता है कि उसकी अपनी आस-पासकी दुनियामें उसके अपने निजी जीवनके प्रति प्रीति भी है। कुछ उसके सगे हैं, कुछ संबंधी हैं, मित्र हैं, जानकार हैं, हितैषी हैं। उसे विस्मय है कि ये सब क्यों हैं। दुनियाका कोई भी प्राणी, कोई भी काम क्यों चाहता है (क्यों उसे चाहना चाहिए)

कि मैं जीऊँ। मैं उनके किस काम आता हूँ। पाँच सौ रुपये पाता हूँ और लड़कोंको पढ़ा देता हूँ। मैं नहीं जानता कि यह भी कोई काम है। और नहीं मालूम क्यों इसके पाँच सौ रुपये मुझे मिलने और ले लेने चाहिए। मुझे जीवनकी सुविधा क्यों इस सहज रीतिसे जुटा दी गई है। मुझे चारों ओरसे यह लाचारी, यह चाह, क्यों घेरे है कि मैं जीऊँ। कोई क्यों माँगता है कि मुझे जीना होगा। देखता हूँ कि लोग खड़े होकर कड़ी धूपमें फावड़ा चलाते और पसीना बहाते हैं। वे जीनेके लिए सचेष्ट हैं। मैं वह कुछ नहीं करता। जीवनमें मुझे कोई अर्थ प्राप्त नहीं। फिर भी जीनेका मुझे सुभीता है जब कि उस मेहनतीको सिर टेकनेको ठौर नहीं!...

इस तरह हरीश अपने सम्बन्धमें संदिग्ध बना जीये चलता है। अर्थके नामपर कुछ उसकी पकड़में नहीं आता; इसलिए कभी ठाठसे भी रह लेता है, कभी बेहाल हालतमें भी दीखता है। उसे किसीमें कुछ करणीय नहीं मालूम होता, यद्यपि करता सब कुछ है। उसे स्वाद नहीं है यद्यपि चखनेको सब उसको सुलभ है, और सब वह चखता भी है। बहुत सोचता है कि क्यों न एक रोज़ जी कसकर उसको लेनेसे इनकार कर दे, जिसका उसके निकट कुछ अर्थ नहीं है, जिसकी उसे कुछ चाह नहीं है। कह दे कि—'ओ जीवनदाता, यह ले अपनी अमानत। तेरी जिन्दगी यह तुझे वापस। मैं नहीं जानता कि उसे लेकर मैं क्यों तेरा एहसान उठाऊँ, और वह भी सिर्फ इसलिए कि आखिर मरूँ।' सोचता सब है; पर होनेमें कुछ नहीं आता। यह नहीं कि साहस नहीं है; पर इतना तक भी वह क्यों करे—इस 'क्यों' और 'करूँ-करूँ' में ही जिन्दगीके बरस निकलते चले जाते हैं। फलतः वह कुछ अघाया, अनमनाया-सा रहता है।

सूक्ष्म और गहन विचारोंका भोजन उसके लिए भोजन अब नहीं रहा। दर्शन उसे सूखा काठ मालूम होता है। काठको चबाये जाओ, उसमें रस कहाँ है। उसमें रस तो तभी तक है, जब तक तुम्हारे जबड़े कच्चे हों और वह काठ चुभकर उनमें ही कहींसे लहू बहा दे सके। उस तुम्हारे अपने मुँहके लहूमेंहीसे रस पा लो तो पा लो; नहीं तो सब वृथा है, पर है, हठ है। इस सबसे वह भर उठा है। अब उन नितान्त ऐहिक, वैषयिक, निरश्लील और श्लील-विहीन बातोंके स्पर्शमें अपनेको डालकर कभी किंचित् चेतना-उत्तेजना

वह अपने भीतर अनुभव करता है तो कर भी लेता है। स्त्रीका और शराबका थोड़ा-बहुत आकर्षण अभी तक उसने अपने लिए हठात् बना रक्खा है। वह दार्शनिक होकर भी किसी कदर दुष्ट बने रहनेमें सफल हो सका है, यही मानो उसे अपनेसे कुछ संतोष है। अन्यथा एक गम्भीर अवसाद उसे सदा डसे रहता है।

पर मैदानके बीचसे जाती हुई सड़कपरसे ज़रा तेज़ चालसे चले जाते हुए हरीशमें अवसाद इस समय नहीं है। वह स्वयं अपनेको अप्रीति-भाजन नहीं लग रहा है। ऊपर बादल गदराये हुए हैं। चारों ओर हलकी सर्दी और मेहकी बयार है। मैदान हरियालीसे उमगा है। सड़क चिकनी, साफ़ और निर्जन है।—यह सब कुछ प्यारा प्यारा-सा लगता है। मानो विश्व नकार नहीं है और न शेष सब कुछ केवल कोलाहल है। राग भी है; और विश्व इसीसे सत्य है कि वह रागमय है।—

उसके हाथमें छड़ी हिल रही है और उसे जान पड़ता है कि उसे कुछ भी सोचनेकी जरूरत नहीं है। सब सोच-विचार अभाव भरनेको उपजता है। बाहर जब रीता, खोखला, हो पड़ता है, तब मन उसमें अपनी चाहें और मस्तक अपनी चिंतनाएँ भरता है। पर हरीश इस समय भीतरसे भरा आ रहा है और उसके लिए अब कुछ खाली कहाँ है?

...कल प्रमीलाने आकर कहा था कि उसका नाम प्रमीला है। बरसों अपनी श्रद्धा थामे वह बैठी रही है। कल आकर बताया कि उसका नाम प्रमीला है—दो साल पहले तक वह भी प्रोफेसर थी;—अब मात्र स्वयं है और लेखिका है। बतलाया कि वह हरीश बाबूकी आजन्म ऋणी है क्योंकि उनके (अमुक) ग्रन्थसे उसे अभ्यंतरमें प्रकाश और प्रेम प्राप्त हुआ है। वह जाने कबसे उनके दर्शनको उत्सुक थी और जानना चाहा कि आज जो उसने हरीश बाबूके समक्ष आ धमकनेका साहस किया है, वह क्षम्य तो होगा न। पूछा, कि क्या उसे और भी जब तब आनेका सौभाग्य अपनानेकी इजाज़त होगी। क्या कहीं वह इस परम भाग्यकी भी आशा कर सकती है कि हरीशबाबू उसके घर पधारनेकी कृपा करें। वह अपने पिताके घर रहती है। (अमुक) रोडपर कोठीका (यह) नम्बर है। अवश्य पधारें। प्रमीलाका धन्यभाग्य होगा यदि हरीशबाबू इसे सम्भव बना सकेंगे। उसने यह भी बताया कि वह अविवाहिता है और विवाहको

सर्वोच्च धर्म नहीं मानती। न वही एक मार्ग है। विवाहसे ऊँची सार्थकता भी मानव-जीवनकी वह देख पाती है। और अंतमें उसने पूछा था कि हरीशबाबू बतायें कि वह इसमें भ्रममें तो नहीं है।

जिसपर हरीशने कह दिया था कि नहीं, भ्रम नहीं है...

प्रमीला आशासे भरी बड़ी भली लगती थी, मानो आयुके उस सिरेतक वह ऐसी ही भरपूर पाल खोले पैरती-सी चली जायगी। सौम्य उल्लास उसके मुखपर था। हरीशने देखा, यह प्रमीला जीवनको शून्य माननेकी लाचारीमें कभी नहीं गिरी। वह है, और इस होनेके समर्थन अथवा संदेहके लिए कोई 'क्यों' उसके भीतर नहीं है। वह प्रश्नपूर्वक नहीं, आशापूर्वक जीती है और ऐसे ही जियेगी। वह उत्सुक होना जानती है और जीवनके वैचित्र्यके प्रति उसमें उदासीनता नहीं है। वह बालककी नाई हँस सकती है और जिज्ञासु हो सकती है। विस्मय उसमें भरा है और अबोध होकर वह असन्तुष्ट नहीं वरन् स्फूर्तिशील और चपल है।

जब गुरुके समक्ष निपट विद्यार्थिनीकी भाँति जीवनके किसी अज्ञात महोद्देश्यको इङ्गित करके प्रमीलाने पूछा कि 'इसमें वह भ्रममें तो नहीं है न?' तब दायित्वयुक्त गुरुकी भाँति ही हरीशने कह दिया था कि 'नहीं, भ्रम नहीं है।' कह तो दिया था; पर कह देकर प्रमीलाके तल्लीन मुखपर आँख जमाकर मानो अपने भीतर वह टटोलने लगा था कि जीवनका वह महदुद्देश्य क्या है। वह कहीं है भी? और इस टटोलनेके समस्त प्रयासके उत्तरमें मानो उसकी आँखोंने चोट दे-देकर उसको यही सूचना दी थी कि जो स्पृहणीय है वह इस नारीमें ही है, उसके बाहर होकर शायद कहीं भी कुछ और नहीं है। वहाँ सौन्दर्य है, जीवन है, आशा है, आकांक्षा है। और विश्वमें स्पृहा-योग्य क्या है? साध्य इष्ट भी और क्या है?...

पर इसी समय उसमें अपने प्रति विमनस्कता भी उठी। इस कमनीय रमणी-द्वारा अपने प्रति दिये जाते हुए श्रद्धाके समर्पणमें हरीशने नहीं जाना कि उसे सुख मिला। मामूली तौरपर उसने कह टाला कि वह श्रीमतीजीका परिचय पाकर कृतज्ञ है और कि वह कभी उनके यहाँ आनेका अवसर पाकर सुखी होगा। पर वह अपने दुर्भाग्यको जानता है और उसे कहीं आने-जानेका समय कम मिलता है। उसने अपनेको प्राप्य और प्रमीलाको उत्साहित नहीं होने

दिया। वह प्रमीलाके प्रति अभ्यर्थनामें भी शिथिल रहा और उसे विदा करते समय भी ठण्डा दीखा। पर भीतर ही भीतर उसने हठात् पाया कि अवसाद ही एक वस्तु नहीं है, आनन्द भी कुछ है और मानो अपने विरुद्ध होकर भी वह जीवनके प्रति अधिक सकाम हुआ।

यह कलकी बात है। पर आज भी वह साँवले बादलोंके नीचे, मीठी बयारमें मानो हिलोरें लेता हुआ, हरे मैदानके बीचमेंसे जाती हुई जनशून्य सड़कपरसे छड़ी घुमाता हुआ ज़रा तेज़ चालसे चला जा रहा है। मानो कहा चाहता है कि वह भी ताज़ा है। उसे अनुभव हो रहा है कि ओह, अभी तो वह चालीस बरसका भी नहीं है। उसे प्रमीलामें आसक्तिकी तनिक भी सुध नहीं है। मात्र,वह उसमें और अपनेमें प्रसन्न है। मानो मटमैले अलस अवसादके पटपर चित्र-विचित्र रंगोंके मेलमें अकस्मात् फूट उठता हुआ उसने देखा है जीवनके फूलका एक चित्र। बस चित्र, जिसमें उसे अनुराग नहीं, मात्र हर्ष है। वह चित्र है पदार्थ नहीं; प्रतिनिधि है स्वयं नहीं। चित्र भी क्यों, मानो संयोग-घटित घटना-भर है जो क्षणसे अलग होकर नहीं जीती। प्रमीला नामक नारीसे अपना तनिक भी सरोकार उसे नहीं सूझता। केवल उसके ध्यानको ही अपनी आँखोंमें ठहराये हरीश हलके कदम चला जा रहा है। उस ध्यानमूर्तिमें उसे सतत अभिलाषका, एक हरियाली चाहका, जैसे जीवनके अर्थका ही आभास पाता है। वह जीवनका आशय, जीवनकी साध, चाँदसे चाँदनीकी तरह वहाँसे फूटकर चहुँ ओर विकीर्ण होती हुई भी उसे जान पड़ती है...

सहसा पीछेसे सड़कपर जोरसे पड़ते हुए बूटोंकी आहट उसे मिली। दिखा, पीछेसे एक सज्जन चले आ रहे हैं। कदम उनके दृढ़ हैं और उनकी मुद्रामें शंका नहीं है। वह मुँहसे सीटी बजाते चले आ रहे हैं। और दीखा कि उनके कभी इधर और कभी उधर होकर चलता हुआ एक कुत्ता है। बड़ा ही सुन्दर कुत्ता। उसके जाने टाँगे हैं या नहीं और पेट उसका धरतीसे छूता मालूम होता है। देह उसकी क्या है, झबराले बाल-ही-बाल हैं। और वे ऐसे चिकने,मुलायम, गहरे काले और लच्छेदार हैं—कि क्या कहिए!

'ओ प्यूटिन! प्यूटिन्!!...ओ रास्कल यू...शि-श्-श्।'

सज्जनने कहा, सीटी दी, और हरीशने देखा वह रास्कल प्यूटिन् सूँघ-सूँघकर जहाँ-तहाँकी टोह लेनेमें ही प्रवृत्त है। सज्जनके असज्जन-सम्बोधन उसने कहीं

आसानीसे सुने-अनसुने कर दिये हैं। हरीशने और भी देखा कि सज्जन भी इस-पर किसी तरहकी व्यस्तता प्रकट नहीं करते हैं, वह प्रेम-पूर्वक कुछ और भी अप्रिय शब्द निकालते हुए और सीटी बजाते हुए मग्न-मुद्रासे बढ़ते चले जा रहे हैं। वह हरीशके पास तक बढ़ आये, नमस्कार किया। हरीश कुछ उत्तर दे, कि उसने देखा, वह कुत्ता किसी पत्थरको एक ही साथ सूँघना छोड़कर भाग आया है और सज्जनके पैरोंके बीचमें उलझकर उनके पतलूनके किनारोंको कुतरनेपर उतारू हो गया है। सज्जनने प्यारसे लात फटकारते हुए कहा—यू ब्लडी।

हरीशने सज्जनको पहचाना तो नहीं; पर प्रत्यभिवादनके साथ कुत्तेको देखकर उसने कहा—हाउ प्रेटी ए थिंग!

सज्जन सुनकर प्रसन्न गर्वसे मुसकराये और कुत्ता सुनकर जाने किस नई चीजको सूँघनेकी जल्दीमें पतलूनके किनारेको एक बार जोरसे झटका देकर वहाँसे तीरकी तरह झपट निकला, जिसपर सज्जनने कहा—द डेविल!

हरीशकी निगाह हठात् उस कुत्तेकी स्वच्छन्द क्रीडाओंमें उलझ गई। उसे जगतके फीके दीखनेका कोई अवकाश न रहा। उसे कुत्तेकी अठखेलियाँ बड़ी अच्छी लग रही थीं। मानो जीवनकी लीला ही सामने इठला रही हो। वह अना-यास पुकार उठा 'प्यूटिन! प्यूटिन्!!' जिसपर सज्जनने (जो कि अब उससे आगे बढ़ गये थे) उसकी ओर कृतज्ञ गर्वके भावसे देखा और मानो कुत्तेने भी फ़ख़से अपने कान खड़े किये।

हरीशने उत्साहित होकर और सीटी बजाकर कहा—प्यूटिन्! प्यूटिन्!!

प्यूटिन् क्षणिक ठहरा। उसने देखा, जैसे सर्कसका सधा खिलाड़ी ही न हो। हरीशका जी प्रतीक्षासे और खुशीसे भर आया। देखते-देखते प्यूटिन छलाँग भरकर उसीकी तरफको भाग छूटा। आया, आया!—पर एकदम बीचमें रुककर वह तो फिर वापस भाग गया!

कुत्तेकी इस शरारतपर हरीश मचल ही पड़ा। वह सब कुछ भूल गया और आत्मीय भावसे कुत्तेके पीछे दौड़ा। कुत्ता क्या चार टाँग रखकर आदमीके हाथ लगे! इससे वह पास-ही-पास रहकर भी इनके हाथ नहीं आया।

उस समय अत्यन्त आनन्दित भावसे उन सज्जनने बहुतेरे न सुनने योग्य

विशेषण सुनाकर प्यूटिन्‌को बुलाया, उसे गोदमें उठा लिया, ज़ोर-ज़ोरसे प्यारके कई चपत उसकी कनपटीपर जमाये, कहा—बदमाश, बदमाशी करता है !

प्यूटिन्‌ने आँखें मीचकर मानो उस गोदमें और उन थप्पड़-गालियोंमें खूब रस लिया।

थोड़ी देर बाद उन सज्जनने दोनों बाहोंमें थामकर प्यूटिन्‌को हरीशकी ओर बढ़ा दिया। हरीशने हाथ बढ़ाकर प्रेमसे प्यूटिनको ले लिया। लेकर देखना चाहने लगा कि इन मुलायम बालोंके ढेरमें आँख है, तो कहाँ है, और नाक भी है कि नहीं। किन्तु प्यूटिन् तो कुलबुलाकर इनकी गोदसे साफ सरक निकला। और निकलकर ऐसा भाग छूटा, मानो कहता है कि 'लो अब पकड़ो!'

वह भागा, भागा। इस बार वह आस-पास टिकनेवाला नहीं है। कभी सड़ककी दाईंसे बाईं तरफ वह गया, कभी बाईंसे दाईं। मानो चुनौती दे रहा हो कि सबको सब काम छोड़ उसे देखना और देखकर मुग्ध होना ही होगा। और देखें अब कौन उसे पकड़ सकता है!

तभी एक मोटर आई और आगे निकलती चली गई। मोटरके जानेके साथ ही हरीशको एक बारीक चीख़ सुनाई दी। और न कुछ समय होते उसने देखा कि प्यूटिन धरतीपर पिचका पड़ा है। वह कुचल गया है। शायद मर भी गया हो। कुछ आगे बढ़ा कि हरीशने देखा कि कुत्ता मरा नहीं है, मरनेसे बदतर होकर रह गया है। अपनी बची-बचाई जान और कुचली घायल देहको वह घसीट ही रहा है। दीखा, उसकी एक टाँग गायब हो गई है, उसकी जगह अधर पुट्ठेमेंसे गोश्तके छिछड़े लटक रहे हैं और जमा-सा लहू टपक रहा है।

तीन टाँगोंके सहारे अपनी अधमरी देहको घसीट ले जानेकी चेष्टा करती हुई इस प्यूटिनकी मुद्रा उसके चित्तमें घुस पैठने लगी। उसने अपनी आँखें बन्द कीं। पर इससे वह छाप उसके भीतर और बीभत्स और गहरी होकर रह गई। कोई मानो उस तमाम घिनौने दृश्यको ठूँसकर भीतर पहुँचाने लगा। उसके भीतरसे पित्त-के-जैसा कड़वा घूँट उबक-उबक कर उठा। वह अवश ग्लानिसे घिर गया। उसमें विद्रोह-सा जागा। वह मानो इस नीले खोखले शून्यमें अपना सारा जोर फेंककर पूछना चाहने लगा कि कुत्ता यह मरा क्यों नहीं? किस लिए वह अब भी जीता छोड़ा गया? और इस कम्बख्त गधेको अब भी किस आसरे

बचना सूझ रहा है ! क्या अब उसकी जिन्दगीमें बचा है कि जिसे वह अब भी चखे ही ? यों जीनेमें उसे अब क्या साध है ? या कि और किसे क्या साध है ! कहाँ है वह जिसे कहते हैं परमात्मा; और जो दयालु है, और सबका कर्त्ता है ? बताये वह, कि इस नाचीज़ कुत्तेपर मोटर चलाकर वह अपना क्या मतलब साधना चाहता है ! या कि उसके बाद इसे जीता रखकर वह अपनी कौन-सी चाह पूरी करना चाहता है ? यह बेमतलब मौत और बेमतलब जिंदगी किस बड़े कल्याणीय विधानका अंश है, मालूम तो हो ? क्यों यह अतर्क्य है ? कौन इसका विधायक है ! कौन-सा वह नियम है और वह नियामक है जो इस तरहकी मौत और जिन्दगीके बिना अखंडित नहीं रह सकता, जो उन्हींपर तृप्त और सिद्ध होता है ! परमात्मा है, तो मालूम हो कि उसका कौन-सा काम बिना इस ऊँटपटाँगपनके नहीं चल सकता ? इस अनर्थमें ही उसके किस अर्थकी सिद्धि है !...अगर है कुछ अर्थ तो क्यों न मैं चिल्लाकर बताऊँ, वह राक्षसी है...

नहीं देखकर वह देखता है कि घिसटता-घिसटता वह कुत्ता अपनी लाशको खींच ही रहा है ! वह मौतके हाथमें नहीं फँसेगा, नहीं फँसेगा । मानो विधाताके चंगुलसे अपनेको बचाये ही रक्खेगा !

'बचाये रक्खेगा ?' और हरीशके जीमें होता है—'हाय ! अगर...' उसने देखा, कुछ आगे मोटर रुक गई है। वह सोच उठा कि यह कुत्ता कम्बख्त मोटरकी छातीके सामने जाकर क्यों नहीं कहता कि 'ले कुचल मुझे । मैं नहीं डरता तेरी मौतकी ताकतसे !' अरे कैसे वह बची-खुची तीन टाँगोंको लेकर जीनेके लिए भागा जा रहा है !

हरीशको याद आई एक ही क्षण पहलेकी इसी प्यूटिनकी अठखेलियाँ । तब कैसा प्यार हरीशके मनमें था । अब जीमें होता है कि इस ब्रह्माण्डको अपनी मुट्ठीमें लेकर झँझोड़ डाले और ललकार कर कहे कि 'अरे, ओ ईश्वर, कहाँ है तू, सामने आ, और मैं तेरे मुँहपर कहूँ, मैं तुझे इनकार करता हूँ।'

उसका जी बेहद मिचलाने लगा। वह प्यूटिन् घिसटता हुआ सामने दीख ही रहा था । वह ओझल होता ही न था । और वह सज्जन भी दीख रहे थे, जो अपने प्यूटिनके हालको देख रहे थे ।

पर वह हुआ सावधान । क्योंकि दीखा, सामनेसे प्रमीला चली आ रही है । प्रमीला ! उसके बाल कुछ अनसँवारे-से हैं, और हवासे हल्के-हल्के हिल रहे हैं ।

रेशमी साड़ीकी पर्तें उस हवामें काँप रही हैं। पैर ऐसे पड़ रहे हैं मानो पड़ ही नहीं रहे हैं। जैसे स्वप्न-लोकमेंसे उतरी आ रही है और स्वप्नमें ही चल रही है। उसके चेहरेपर विषाद—हाँ, वह तो है; पर रेखा कोई नहीं है। मानो निपट निष्कलुष हो।

वह बढ़ती ही आई। हरीश कठिन हुआ। प्रमीलाने पास आकर जो उसे देखा तो सहमी-सी। हरीशको पहचानकर ही उसने मोटर रोकी थी। रोकने-रोकनेमें यह कुत्तेकी दुर्घटना घट गई। फिर भी उधर उसका ध्यान गौण था। वह हरीशके यों अनायास मिलनेपर प्रसन्न थी। पहले दिन वह हरीशकी पुरुषोचित परुषतापर अपनेसे कुछ खीझी और हरीशपर, जी हाँ, कुछ रीझी थी। इस समय सोचती थी कि कहेगी—'कैसा सुहावना है! चलिए, घर चलिए। नहीं तो आइए, गाड़ीपर आपके घर पहुँचाये देती हूँ।' पर पास आकर हरीशके समक्ष वह निश्शब्द, प्रार्थिनी-सी खड़ी रह गई।

हरीशको सबसे पहले उसकी असावधान सुन्दरता दीखी और उसने कठोर और संक्षिप्त भावसे कहा—वह आपकी गाड़ी है?

प्रमीला जैसे अभियुक्ता नहीं, अपराधिनी ही हो। उसने कहा जान पड़ता है, मैं दुर्घटना कर बैठी हूँ। आपको देखकर मैं गाड़ी रोकूँ-रोकूँ कि मैंने कुत्ते-परसे पहिया गुजार दिया मालूम होता है। मैं—

'मालूम होता है!'—हरीशने कहा—'वह देखिए। उसका नाम प्यूटिन् है। अभी खेल रहा था। अब एक टाँग उसकी शायद आपके पहियेमें चिपक गई है और वह मौतके ज़रा दर्शन करके अब डरसे बेचारा तीन टाँगोंसे ही अपनी लोथको घसीटे लिये जा रहा है!'

प्रमीलाने कुत्तेको देखा। वह दृश्य उसे असह्य था। उसकी आँखें भीग आईं। बोली—मैं बहुत दुःखी हूँ, बहुत दुःखी हूँ। आपसे क्षमा माँगती हूँ।

उस चेहरेपर पानीसे भरी वे आँखें तो और भी सुन्दर हो आईं। और उसकी वह अपराधिनी मुद्रा! हरीशने कहा—क्षमा!—वह कुत्ता मेरा कोई नहीं है। पर मैं जानना चाहता हूँ कि आपने उसे मरनेके लिए तीन टाँग समेत जीता क्यों छोड़ा? इसमें उसको या आपको कोई सुख है?

इसपर प्रमीला विस्मयसे हरीशको देख उठी। उसकी समझमें नहीं आया कि किस प्रकार यह अपनेको और दूसरेको ऐसी तीखी पीड़ा दे सक रहे हैं। कुछ देर

खोये भावसे उन्हें देखते रहकर असमंजसमें प्रमीलाने कहा—प्यूटिनके लिए जो हो सकता है, वह सब मुझे करने तो दीजिएगा न? वह अब मेरा काम है।

हरीश प्रमीलाको देखता रहा। मानो कठोरतापरसे उसका अधिकार शिथिल होना चाहता हो। कातर आज्ञापेक्षिणी-सी प्रमीलाने बढ़ना चाहा कि प्यूटिनको सँभाले। तभी हरीश मानो हँसकर बोला—उसे बचाइएगा? मार नहीं सकीं, तो अब बचाइएगा!

प्रमीलाको जैसे जीती बिजली छू गई। वह सन्न रह गई। फक, स्तब्ध, सफेद पड़ गई हुई यह नारी उस समय और भी सुन्दर हो उठी। उस स्नेह-कातर और अपराध-भीत निर्दोष सौन्दर्यपर हरीशका चित्त मानो गर्म-पर-गर्म होता गया। मानो आज वह अपने ही अन्तःस्थ सौन्दर्यके प्रति खड्ग-हस्त हो। उसका ताप भीतरसे बढ़ता ही आया। कौन यह नारी अपने भीगे, भोले, कोमल सराग रूपको आगे लाकर सत्ताकी काली और दुर्दान्त और निठुर सचाईको मेरी आँखोंसे ओट करने आई है! एकच्छत्र और सार्वत्रिक निरंकुशताके तटपर यह क्या मानवीय असहायता दयाके आँसू गिराने आई है! यह विडम्बना है, यह पाखण्ड है, यह व्यंग है। यह कौन स्नेहके आँसुओंसे छलक आनेको उद्यत अपनी आँखें लेकर कहने आती है—'भयानक सचाई मत देखो, मैं युवती हूँ, और रो रही हूँ। सत्य विराट् हो; पर मैं नारी हूँ। सत्य रौद्र हो; पर मैं सलोनी हूँ। वह कठिन हो, निर्मम हो, दुर्गम हो; पर देखो, स्नेहसे स्निग्ध, मैं सुलभ भी हूँ। होगा कुछ अँधेरा और काला; मैं जो तुम्हारे सामने खड़ी हूँ, बोलो, उजली और गोरी नहीं हूँ?' छिः-छिः, महासत्ताकी रुद्रता और बीभत्सताके आगे यह कैसा छोरियोंका-सा खिलवाड़ है! यह भ्रमजाल है। अरे यही न माया जाल है, जो सत्यको ढाँके है!

और हरीशने अपना हाथ बढ़ाकर प्रमीलाका हाथ पकड़ लिया, मानो रोका हो। फिर छोड़ देकर कहा—नहीं, आप दया नहीं कीजिएगा। आप स्त्री हैं; पर पौरुष तनिक आपके लिए भी बुरा न होगा। वह कुत्तेकी बची तीन टाँगें देखिए। उसकी वेदना और आपकी करुणा—मुझे बताइएगा इनमें कौन सत्यतर है, कौन महत्तर है? क्या आप अपनी करुणापर इस दृष्टिसे देख सकिएगा?

प्रमीलाने अतित्रास भावसे कहा—यह आप क्या कह रहे हैं! हमारा वश

अधिक नहीं है तो क्या अपने वशसे दयाको भी निकल जाने दें ? पर, मैं कहूँ, मैं आपको समझती हूँ।

हरीशकी भौं सिकुड़ आई। उसने कहा—मैं कहता हूँ कि मनुष्य अपनेको अंधा करनेके लिए दयाके आँसू नहीं ला सकेगा। दया देकर थोथी सांत्वना मनुष्य नहीं पा सकेगा। यह मनुष्यका दंभ है। जिसने सबके जीने और मरनेको अपनी मुट्ठीमें बन्द किया हुआ है, जान पड़ता है जब वह अभागा दैव विशेष सावधान नहीं है, तब कुछ सुधार नहीं हो सकेगा। पर, मोटरपर न बैठनेमें तो आदमीका वश अवश्य है।

प्रमीला आँसू और विस्मयसे भरी आँखोंसे हरीशको देखती रही। मानो हरीशके लिए आँसू और विस्मय दोनों ही उसके पास हैं।

पर फिर भी हरीशके भीतरका विद्रोह गुर्राता ही रहा।

इसी समय हरीशको दीखा कि कुत्तेके मालिक वह सज्जन पास खड़े हुए हैं। दीखा, जैसे कि वह प्रमीलाको पहचानते हैं। उनके मुखपर क्लेश नहीं है, मानो आभार है। वह शायद कुछ उत्सुक हैं। मानो कि उनके प्यारे प्यूटिनको अपनी मोटरसे कुचल देनेवाली इस रमणीसे उन्हें जवाब तलब नहीं करना है, वरन् उधरसे कञ्चित् कृपाके कटाक्ष पानेकी ही अभ्यर्थना है। वह बोलनेके उपयुक्त अवसरकी प्रतीक्षामें अपनी बेंतको इस हाथसे उस हाथ कर रहे हैं। और...

हरीशकी आत्मामें मानो आग ही लग गई। उसने रुद्ध भावसे प्रमीलासे कहा—'मेरा नहीं, वह प्यूटिन् आपका है।' और कहकर वह आगे बढ़ चला।

सामने, कुछ ऊपर, घोर काले बादल उसे दीखे और उसमें हुआ कि हमारी दया क्या वैसे ही प्रवञ्चना नहीं है, जैसे इन बिजली-भरे बादलोंकी गहन कालिमाके सामने हमारा तोले-भरका चाँदीका सिक्का ! और हमारा सौन्दर्य क्या वैसे ही नहीं है, जैसे आँधीमें फूँक ?

और इस प्रकार एकदम अपनेको तोड़कर जाते हुए हरीशको प्रमीला देखती ही रह गई।

एक कैदी

मानव-समाजके विधान और व्यवस्थाकी दृष्टिसे व्यक्तियोंको दो श्रेणियोंमें बँटा देखा जा सकता है, अनुकूल और प्रतिकूल। अनुकूलमें फिर दो वर्ग हैं। एक जो कानून मनवाते हैं, दूसरे जो कानून मानते हैं। इस तरहके लोग समाजके रक्षक और आधार होते हैं। सभ्यता और संस्कृति इन्हींपर टिकी होती है। समाजका अधिकांश भाग जब तक इन दोनों प्रकारके आदमियोंको लेकर बनता है, तब तक समाजमें अनुशासन और स्थिरता बनी रहती है।

किन्तु सत्य स्थिरतासे घिरा नहीं है, न अनुशासनसे परिबद्ध। काल भी सत्य ही है। काल, जो बनने और मिटनेका आधेय है। अतः स्थिरता सिद्धि नहीं है, गति भी आवश्यक है। जीवन अस्तित्वसे अधिक कर्म है। उन्नति, प्रगति, परिवर्त्तन आदि इसीसे जीवनकी परिपूर्णताके अंग हैं।

इसी लिए समाजमें प्रतिकूल व्यक्तिकी भी आवश्यकता है, उसकी उपयोगिता भी है। वह प्रतिकूल है, न वह शासक है, न शासित। विद्रोही उसे कहो तो कह सकते हो। शासकके मुँह लगनेकी चिन्ता भी उसे नहीं है, न पिचकर दब बैठना ही उसके मानकी चीज है। वैसे व्यक्तिके लिए अदालत बैठी है, जेलखाना खड़ा है और पिनल कोडमें निर्णित सजाएँ मुद्रित हैं। ऐसे लोग अव्यवस्था पैदा करते हैं। अन्ततः यही लोग उन्नति और प्रगति भी पैदा करते हैं।

जब मानव-समाजमें इस प्रकारके लोगोंकी अनुपातसे अधिकता होती है, तब विप्लव और क्रान्तियाँ हुआ करती हैं। उनको 'अपराधी' संज्ञासे सुविधापूर्वक निर्दिष्ट किया जा सकता है। इन अपराधियोंकी भी दो श्रेणियाँ हैं। एक तो वे जो खुल कर अपराध करते हैं। वे अपराध करनेको सत्याग्रह और फाँसी चढ़नेको शहादत कहते हैं। कानून तोड़नेको वे अपना धर्म तक बना लेते हैं। विद्रोह उनका कर्म-मार्ग है, विप्लव जीवन। वे ऐसे 'चोर' हैं जो सीनाज़ोर भी हैं। अपराधी खुल्लमखुल्ला बनकर वे समाजके नेता और इतिहासके उन्नायक बनते हैं। इस

प्रकारके अपराधी पीछे आकर बहुधा शासक-श्रेणीमें भी परिवर्तित होते देखे जाते हैं। अपनी अपराध-वृत्तिके कारण तात्कालिक सरकारोंद्वारा वे सदा दण्डनीय होते हैं। परन्तु अन्ततः अपनी उस अपराधवृत्तिमें दुर्दमनीय उद्दण्डता एवं सत्यबोधके कारण इतिहासके मान्य पुरुष भी वे होते हैं।

अपराधी श्रेणीका दूसरा भाग नैतिक अपराधीके नामसे पुकारा जाता है। यह भाग बहुधा ऐसा होता है जिसके लिए अपराधवृत्ति लगभग एक पारिस्थितिक अनिवार्यता है। भूखसे लाचार हो गये, तब चोरी कर ली; गुस्सा चढ़ आया, मार बैठे; दुश्मनी ठनी तो लट्ठ लेकर फैसला कर डाला; कामोन्मादवश बलात्कार जैसा कृत्य कर गुजरे; आदि आदि। पहले पहल लाचारीमें कुछ अपराध बन गया; फिर करते करते उसकी बान-सी ही पड़ चली। नैतिक अपराधी अधिकांश ऐसा ही व्यक्ति होता है। वह लगभग परिस्थितियोंका शिकार होता है; विवश और अपराधके सम्बन्धमें लज्जित। सीनाज़ोर वह नहीं होता, बेचारा ही होता है। अपराधमें उसे दुख और क्षमाकी आशा होती है। वह सीधा साधा आदमी होता है। घर-कुटुम्बवाला होता है। अपने प्यारोंको प्यार करता होता है, परायोंसे बेमतलब रहता है और जो उसका दुश्मन है बस उसका ही दुश्मन है। अपराध उसके भीतर न संकल्पकी भाँति रहता है, न वृत्तिकी भाँति। परिस्थितियोंका तर्क ही उसे अपराधमें ले जाता है। ऐसा बेचारा आदमी निम्न, हीन, तिरस्करणीय नैतिक अपराधी गिना जाता है।

दूसरा है, जिसे अपने अपराधमें गौरव है। वह अपने अपराधमें क्षमाप्रार्थी नहीं, प्रत्युत हठी है। उसके सम्बन्धमें अपराधकी अनिवार्यता तनिक भी प्रकट नहीं है। वह गुस्सेकी मददसे नहीं, सिद्धान्तकी मददसे हत्या करता है। पेटकी जरूरतसे नहीं, आदर्शकी प्रेरणासे डाके डालता है। अपने या अपने ही कुनबेके लिए नहीं, जाने किस और बड़ी चीजका नाम लेकर कानूनका सामना करनेको आगे आता है। संक्षेपमें वह कानूनको तमाचा मारते हुए भी उसी कानूनके मुँहके सामने शहजोर बनता है। ऐसा आदमी नैतिक अपराधी नहीं, राजनैतिक अपराधी समझा जाता है।

पहले प्रकारका आदमी तो कानूनकी मुट्ठीमें अभियुक्त है—कैदी है। दूसरी तरहका आदमी यह होकर भी मानो सरकारका प्रार्थनीय होता है और स्पृहणीय माना जाता है।

मुझमें ही भला और क्या बात थी ? यही तो कि जब मजिस्ट्रेटने पूछा कि आपने यह किया, तब मैंने कहा—हाँ, मैंने यह किया।

उसके बाद मैंने मजिस्ट्रेटके सामने अपनी कुर्सीमें बैठे बैठे और भी बातें कहीं जिनमें एक यह भी थी कि मैंने कानूनको तोड़ा, क्योंकि वैसा न करना मेरे लिए बेइज्जती हो जाती। मुझे दुख नहीं है कि मैंने वैसा किया, और आप जो सज़ा देंगे उसे धन्यवादपूर्वक मैं ले लूँगा।

यही कहना होगा कि इस शहजोरीके कारण मजिस्ट्रेटने मुझे ‘ ए ’ क्लास दे दिया। आप जानते हैं कि कानूनकी निगाहमें आदमी आदमी सब बराबर हैं। किन्तु आप यह भी जान सकते हैं कि आदमी कभी न सब बराबर हुए हैं और न होंगे। वह आदमी ही क्या, जो अपनेको औरोंसे विशिष्ट न समझे ? और वह समझदारी क्या, जो आदमी आदमीमें फर्क करना न जाने ? और कानूनके रक्षक लोगोंको कभी भी अनसमझ नहीं समझा जा सकेगा। सच यह है कि आज हम यह आवश्यक समझते हैं कि कैदियोंमें श्रेणियाँ रहें और हम जैसे लोग ‘ए’, ‘बी’ क्लासोंमें रक्खे जायँ। जेलमें जब मैं उन कैदियोंको देखता हूँ, जिनको विधिने न जाने अपनी किस उँघानींदमें इस दुनियामें मुझ जैसा ही आदमी बनने दिया है, तब सरकारकी बनाई हुई इन ‘ए’ और ‘बी’ क्लासोंका तथ्य मुझे सहज ही हृदयंगम हो आता है।

हम लोगोंका जेलमें रहनेका अहाता अलग है। अन्य कैदियोंमे हमें न मिलने जुलने देनेका ख्याल रक्खा जाता है। और न हम खुद उनसे मिलना चाहते है। हम लोग विशिष्ट हैं और विशिष्टताका घेरा हमारे चारों ओर रहे, यह हमें भी अप्रिय नहीं लगता। अहाता छोटा-सा है और काफी उद्यम और तर्क खर्च करनेके बाद हमने दो घंटे सुबह और दो घंटे शामको सड़कपर कुछ दूर टहल सकनेके लिए अपने लिए आज्ञा प्राप्त कर ली है।

साफ़, स्वच्छ, सफेद खद्दरके लिबासमें, पैरमें चप्पल डाल, अध्यात्म और राजनीतिकी चर्चा चलाते और सड़कपर टहलते हुए हम देखते हैं कि और कैदी बड़ी श्रद्धा और बड़े धन्य भाग्यके साथ हमें देख रहे हैं। उन्हें मालूम है कि हम शाहजादोंसे कम नहीं हैं, लेकिन फिर भी भारत-माताके लिए संकट उठा रहे हैं। हम उनके इस विस्मयापन्न आदर-भावको बस एक निगाह देखते हैं और फिर झट अपनी अध्यात्म और राजनीतिकी चर्चामें और भी जोरसे दिल-

चुस्ती लेते हुए बढ़ते चले जाते हैं। इधरसे उधर जाते हैं, उधरसे इधर आते हैं और...

कई रोजसे एक कैदीको देख रहा हूँ। वह हमारे पास तक आकर भी दूर रह जाता है। संकोच भावसे वह हमें नमस्कार करता है और मानो यह अनुभव कर अपने आप लज्जित भी होता है कि हमने कहीं उसका नमस्करण देख तो नहीं लिया! रंग गोरा है, किन्तु गोरेसे अधिक उसे पीला कहना चाहिए। रक्त उसकी देहमें निरा ही निरा बस काफी है, व्यर्थ एक बूँद भी नहीं है। दुबला है और नीचेसे उसकी टाँगें ज्यादा एक दूसरीसे दूर मालूम होती हैं। बाल बड़े बड़े हैं, कढ़े हुए हैं और उनमें तेल पड़ा है। ऐसा लगता है, जैसे दमेका बीमार हो। एक बार तो वह सड़कके इतने किनारे आ गया कि सिवा इसके हमें दूसरा चारा न रहा कि हम उसे मालूम हो जाने दें कि उसका अभिवादन हमने देखा है। प्रत्युत्तरमें जब उस अभिवादनकी स्वीकृति भी हमने दी, तब अतिशय धन्यभावसे उसका मुँह खुल आया था और हमने देखा था कि उसके अगले दो दाँतोंमें सोनेकी कीलें लगी हुई हैं।

हम कभी बाहर आकर कुछ खेल भी खेला करते थे। उस समय भी वह कैदी इधर उधर हमें देखता था। गेंद जब दूर चली जाती, तब वह दौड़कर उसे ले आता और मानो इस प्रकार हमारी तनिक सेवा कर पानेपर अपनेको कृतार्थ अनुभव करता।

लेकिन हममें एक ऐसा व्यक्ति भी है, जो शब्दके पूरे अर्थमें उच्चवर्गीय नहीं है। उसकी बौद्धिकताकी हममेंसे किसीपर धाक नहीं है, न उसके व्यवहारमें वह वंशगत शालीनता है। लेकिन वह हम लोगोंकी टोलीमें सबसे अनिवार्य व्यक्ति है। उससे सबके बहुतसे काम सधते हैं। यहाँके उसके मित्र बन गये हुए लोगोंकी गिनतीमें बहुधा ऐसे हैं, जिन्हें भद्रजनोंकी श्रेणीमें मैं मरते दमतक न रख सकूँगा। गठकटोंको, चोरोंको, लुटेरोंको, समाजकी इस जूठनको बताइए, हम लोग अपने निकट कैसे बर्दाश्त कर सकते हैं! लेकिन वह हमारा साथी, भद्र और अभद्रके बीचमें जो गहरी रेखा है, मानो उसे देख पाता ही नहीं है। आयासपूर्वक उस रेखाको वह उलंघन करता हो, सो भी नहीं। ऐसा हो, तो भी हम समझ सकते हैं। लेकिन उस कम पढ़े लिखे हमारे साथीका हाल तो

यह है कि उसे आदमी और आदमीके बीचकी रेखा दिखाई तक नहीं देती है। उसकी ऐसी मोटी दृष्टि है।

हमारी अध्यात्म और राजनीतिकी चर्चामें उस कन्हैयालालको तो हमने सदा पस्त ही देखा है। हमें यह भी संदेह है कि उसकी मोटी बुद्धिमें वे तात्त्विक बारीकियाँ प्रवेश भी पाती थीं या नहीं।

एक दिन कन्हैयालालने टहलते समय उस कृशकाय व्यक्तिकी ओर संकेत करके पूछा कि क्या मैं जानता हूँ कि वह कौन है ?

वह कैदी सदाकी भाँति सकुचाता हुआ सड़कके एक ओर खड़ा था। उसने हमें नमस्कार किया था और हम सिरको स्वीकृतिमें तनिक झुका देकर फिर उसी प्रकार सड़कपर चलनेमें तल्लीन रहे थे।

मैंने कन्हैयालालसे कहा कि उस तरहके आदमियोंको बिना जाने हमारा कोई विशेष काम तो रुका नहीं पड़ा है, तो भी कन्हैयालालको उसके बारेमें कुछ कहना हो तो कहे।

कन्हैयालालने कहा—वह गढ़वाली है, पंडितजी।

मैंने साधारण भावसे कहा—अच्छा।

कन्हैयालाल बोला—आपको सन् ३० की वह गढ़वाली सिपाहियोंकी घटना याद है न ? वही यह गढ़वाली है।

तब मुझमें उस आदमीके प्रति दिलचस्पी जागी। मैंने उसकी ओर देखा। कन्हैयालालके संकेतपर वह हमारी ओर बढ़ता आ रहा था। भयसे वह भीत था और रह रहकर पीछेकी ओर देखता था। पास आकर उसने कहा—'वन्दे-मातरम्।'

मैंने भी किया, 'वन्दे मातरम्।'

इसपर उसका रक्तहीन मुख खुल आया। और सोनेकी कील लगे दाँत दिखाई देने लगे। मानो वह विह्वल हो आया हो।

मैंने पूछा—कहो भाई ! अच्छे हो ?

उसने कहा—जी हाँ।

"बीमार हो क्या ?"

"जी नहीं।"

"फिर यह क्या हाल है ?"

तब उसने बताया कि इन दिनों तो वह अपनेको बीमार नहीं कह सकता, पर जेलके उसके शुरूके ढाई साल बड़ी मुसीबतमें बीते हैं। जी गया, यही बहुत समझो। दो साल तक तो पेचिशने ही दम नहीं लेने दिया। तिसपर जेल-वालोंने भी कम सख्तियाँ नहीं कीं। यह उसका जेलमें चौथा साल है। उसकी सजा यों पूरे दस वर्षकी लिखी है। पर दो साल छूटके मिल जानेकी उम्मीद है। आगे भगवान जाने।

यह कहते कहते उसने कई बार पीछे घूमघूमकर देख लिया। वह इस प्रकार शायद अपने पीछे आते हुए जमादारकी टोह लेता था। उसकी परछाईं दिखी कि वह भाग जायगा। जैसे हवाके आनेपर पत्ता काँपनेको तैयार रहता है, ऐसा ही उसका हाल था।

मैंने पूछा—तुम्हारे बाल-बच्चे हैं?

उसने कहा—हैं जी।

"कभी तुमसे मिलने आते हैं?"

उसने कहा—जी नहीं, क्योंकि यह जगह बहुत दूर है। और, नहीं आते यही अच्छा है। क्योंकि उनसे मिलकर चित्तका दुख बढ़ता ही है।

मैंने पूछा—तुम्हें अपनी रिहाईका भरोसा है?

किन्तु इसी वक्त जल्दीसे वह हमसे दूर हो गया। हमसे किनारा काट ऐसे बेगाने भावसे वह चल पड़ा कि मानो कभी उसने हमें देखा ही न हो। बात यह थी कि वह जमादारको इधर आते देख चुपचाप सरक गया था।

मैंने कन्हैयालालकी ओर देखा। मेरे मनमें उस गढ़वालीको देखकर दर्द हुआ था। आज तो वह मेमना भी नहीं है इतना डरता है, किन्तु कभी वही फौजी गढ़वाली भी रहा होगा। उसमें करांपन कहाँ है? निर्भीकता कहाँ है? शरीरका बल और मनका साहस कहाँ हैं? ये सब उसमेंसे अब कहाँ उड़ गये हैं? यही दीन क्या कभी संकल्पका धनी भी था?

हमने अपने सामने सामने देखा कि जमादार बेजरूरत बेहूदी गालियाँ सुनाता हुआ उस कैदीको खदेड़कर ले जा रहा है, और वह कैदी खदेड़ा हुआ चुपचाप चला जा रहा है।

अगले रोज वह फिर मिला। इस बार शायद वह जमादारको चकमा देकर

आया था और तनिक स्थिर भावसे हमसे बात कर रहा था। मुझे यह समझमें नहीं आता था कि वह कौन-सी बात हो सकती है जो इन लोगोंमें ऐसा संकल्प भर दे जिससे कि आदमीकी जान लेना, जो इनके रोजका खेल होगा, उसीसे इतने विरत हो जावें कि जान दे दें पर निहत्थोंपर गोली न चलावें। इन लोगोंके मनमें धर्म-नीतिकी ही कोई बात ऐसी गहरी जाकर जम गई होगी, यह एकदम असंभव मालूम होता था। तब क्या राष्ट्र-प्रेम इन्हें छू गया? किन्तु देशका प्रेम तो अपने मनके गहरे घावके संस्पर्शके द्वारा प्रेरक बनता है। अन्यथा वह क्या है? तब वह ठेस क्या थी?

मैंने यही बात पूछी। पूछा कि उन्हें गोली चलानेसे इनकार करनेका परिणाम क्या मालूम नहीं था? क्या उन्हें पता न था कि इस तरह अगर उनकी जिन्दगी बची भी तो वह जेलमें ही बीतेगी?

उसने जो बताया, उसका आशय था कि मालूम था और नहीं भी मालूम था। वास्तवमें परिणामकी भली प्रकार चिन्ता करनेका अवकाश ही उनको न रहा था। क्या सब कुछ परिणाम देखकर ही करना होता है? यह हो, तो जीवनमें दैवी क्या रहे? जगतमें ईश्वरीय फिर क्या ठहरे? साहस तो फिर असिद्ध ही हो पड़े न—। और तर्कसे आगे होकर कुछ शेय और साध्य रहे ही नहीं। किन्तु नहीं, कुछ ऐसा होता है जो अनिवार्य होता है। अपने आपमें ही वह सत्य है और किसी भी फलाफलके विचार,—तर्कसे उससे बचना नहीं हो सकता। वह इतना विराट् और इतना भीतरी होता है। फिर भी इतना सूक्ष्म कि समझ पड़ सकता ही नहीं। फिर अपनी कहानी यों सुनाई—

उनके दस्तेको पेशावर बुला लिया गया था। शहरमें जोश बहुत बढ़ गया था और लोगोंको दबा रखनेके लिए फौजकी जरूरत थी। दो बार गोली चल चुकी थी। सैकड़ों हताहत हुए थे, पर नगरका साहस बुझा न था। भीतर ही भीतर वह साहस सुलग रहा था और चमक भी उठता था। अधिकतर भीड़के सामने हम लोगोंको तैनात किया जाता था। हुक्म होता, हम बौछार छोड़ते और सामनेकी भीड़मेंसे जिन्हें गिरना होता गिर जाते, कुछ भाग जाते और शेष तितर बितर हो जाते थे। पर चन्द मिनटोंमें दूसरी जगह फिर भीड़ दिखाई देती थी। उस भीड़में बड़े भी होते, बच्चे भी होते और बूढ़े भी होते। उनमेंसे कुछको फिर वही गोलियोंके घाट उतरना होता, तब भीड़ छँटती। हमें पेशावरमें

तैनात हुए चौथा रोज था। सवेरे आठ बजेसे हम आये थे और अब बारह बज गया था। छरोंकी छः बौछार हम छोड़ चुके थे और कोड़ियों आदमी उनसे भुन चुके थे। दोपहरके कारण अब सन्नाटा था। बाजार उजाड़ था। आदमी इक्का दुक्का ही सड़कोंपर आता-जाता दीखता था। अब हम अपने स्थानको लौटेंगे और तीसरे पहर फिर यहीं ड्यूटीपर आ जायँगे। हम लोगोंने शहरकी सड़कों और गलियोंकी गश्त की। हमारा काम था कि निश्चय कर लें कि सब जगह शान्ति है। कहीं पत्ता तो नहीं हिल रहा है। तीन तीनकी लाइन बाँधे, कंधेपर बंदूकें रक्खे, बूटोंकी धमकसे मार्च करते हुए हम लोग चले जा रहे थे।

जब गोलीकी बौछार छूटती है तब क्या उसे यह फुर्सत रहती है कि देखे कि कौन मरने लायक है और कौन नहीं मरने लायक ! उसकी चपेटमें बालक वैसे ही आ सकता है जैसे कोई और। और सचमुच यह जाननेका साधन कहाँ है कि यमराजको सब लोग,—बालक, वृद्ध, स्त्री और पुरुष,—एक समान ही प्यारे नहीं हैं। सो बचोंके पक्षमें पक्षपात करनेका न वहाँ कारण था न अवसर।

हम लोग चले ही जा रहे थे कि हमने देखा कि एक छोटी-सी दूकान है। वहाँ एक चपटा लकड़ीका तख्त-सा पड़ा है। कुछ कपड़े लटक रहे हैं। कुछ फर्शपर प्रतीक्षामें फैले हैं। उस तख्तपर एक आदमी बिछा हुआ है। पास एक बच्चा बैठा है। बच्चा बरस सवाबरसका होगा। उसने मुँहको लाल रंग रक्खा है और उसके हाथ भी खूनसे लाल हैं। बच्चा बहुत खुश है और मानो उसे यह एक नया बढ़िया खेल मिला है। उसके पास नीचे बिछे हुए आदमीके सीनेमें पाँच जगह गोलियोंके गहरे घाव हैं। उनमेंसे ताज़ा ताज़ा खून बहकर बाहर आ रहा है। छाती खुली है और बच्चा उन घावोंमें बार बार हाथ डालता है और अपनेहीको उस लाल लहूसे पोत रहा है। वह अपनेको इस खूबसूरत और नये रंगसे रंगा देखकर प्रसन्न है और ताज़े लहूसे भर-भरकर उन हाथोंको कभी अपने मुँहपर फेरता है और कभी अपने कपड़ोंपर। फिर अपनी खुशीको नीचे बिछे हुए अपने बापके साथ बाँटनेको ललक कर वह खुशीसे ताली बजाकर कहता है—अब्बा, अब्बा !

हम चल रहे थे, और चलते ही रहे। मानो हमने कुछ नहीं देखा। पर फिर भी तो दीखा ही। देखा कि वह आदमी अभी मरा नहीं है, मरनेवाला है।

उसमें साँस है क्योंकि लहू रह रहकर अधिक रिस उठता है। बालक हँसकर और हाथकी ताली बजाकर कहता है, 'अब्बा, अब्बा!' और बड़े उल्लासके साथ बापकी छातीके जख्मोंमें हाथ डालकर ताज़े गोश्तके छिछड़े मुट्ठीमें लाकर द्विगुणित उछाहसे चिल्लाता है, 'अब्बा, अब्बा!' अब्बा अपलक बच्चेको निहार रहा है। वह मिनटोंका मेहमान है। वह बालककी खुशीको देखकर खुश है! बालक उसके जख्मोंमें हाथ डाल कर नया गोश्त निकाल कर लाता है,—पिता खुश है! वह मर रहा है, उसे अपार वेदना है,—पर, अपने मुँहसे आह निकलने देकर बालककी खुशीको वह नष्ट नहीं कर सकता। मरते मरते वह अपने बच्चेकी आनंदकी घड़ियोंको कम न होने देगा। इससे करवट भी न लेगा। न आह निकलने देगा, क्योंकि इससे बच्चा सहम न जाय! असह्य पीड़ामें पड़ा बाप निर्निमेष बच्चेको देख रहा है जो अब्बाके सीनेके जख्मोंके गढ़ेके लहूसे अपनेको रंगकर प्रसन्नतासे चिल्ला रहा है—अब्बा, अब्बा!

हममेंसे सबने ही वह दृश्य देखा। बालकका लहूसे सना उल्लास और पिताके वक्षसे निकलता हुआ लहूका ढेर और पिताकी आँखोंमें छलक आई हुई मृत्युकी भीति और जीवनकी ममता,—देखते हुए हम रुके नहीं, चलते ही चले आये! चुपचाप, हम सब इसी प्रकार सड़कपर बूट बजाते हुए निकलते चले ही आये।

अपनी जगह आ गये। पर कोई किसीसे नहीं बोला। मानो मुँहमें जीभ ही न रही थी। मन भारी था और शब्द असम्भव। सबने चुपचाप खाना खाया, सबने चुपचाप सब काम किया। काममें कुछ व्यतिरेक नहीं हुआ। तीसरे पहर फिर ड्यूटीपर आये और वही दूकान फिर रास्तेमें पड़ी। बाप अब मर गया था और बच्चा पास ही सोया पड़ा था। दस्तेदारने हमें वहाँ रोका और वह दूकानमें गया। बच्चा शायद रोते रोते सो गया था। तुरन्त वैसे ही मुँह और वैसे ही पाँव लौट आकर दस्तेदारने जोरसे दहाड़कर कहा—मार्च!

हम सब निःशब्द थे।

उस रोज सब जगह शांति रही और गोली चलानेकी आवश्यकता हमें न पड़ी।

उस दिन-भर हमारे दस्तेमें शायद ही कोई एक दूसरेसे बोला हो। रातको नींद भी किसीको न आती थी। रातके ग्यारह बजे, बारह बजे। उस समय दस्ते-दारने हममेंसे पाँचको बुलाकर कहा—भाइयो! क्या कहते हो?...

कि तभी दो-चार गालियाँ थप्पड़-सी आकर मेरे कानोंपर बजीं ! मैंने देखा, जमादारने आकर उस गढ़वालीकी न सुनने योग्य गालियों और न सहने योग्य धक्कों-मुक्कोंसे मरम्मत करना शुरू कर दी है।

कुछ क्षणके लिए मुझे प्रतीत हुआ कि उस कैदीमें जैसे कुछ विरोधका भाव उठा है। मानो वह कहनेवाला है कि मैं भी आदमी हूँ और जमादारको भी अपनेको राक्षस नहीं बनाना चाहिए। किन्तु वह भाव क्षण-भरमें ही उसके मुखपरसे उड़ गया। और देखते देखते वह अति दीन होता चला गया। वह हाथ जोड़कर कातर भावसे चिल्ला उठा। पर जमादारने इसपर और भी जोरसे डंडे जमाये।

मैंने कहा—जमादार !

किन्तु जमादार लात और डंडेकी मारके ज़ोरसे तब तक उसे दूर ले जा चुका था।

कुछ देर यह सब मैं खड़ा खड़ा देखता ही रह गया। उसके बाद मैंने कहा—चलो कन्हैयालाल।

कन्हैयालालने कहा—चलिए।

चलते-चलते मैंने कहा—अब भी क्या इनमें कुछ बचा है जिसे कुचलना शेष हो ? फिर क्यों ये लोग जेलमें हैं, एक साथ ये मार ही क्यों नहीं दिये जाते ? यह सदय हो।

कन्हैयालालने कहा कि माफी माँगनेका रास्ता अब भी इनके सामने खुला है। पर इस कैदीने इन्कार किया है।

"तो अभी दम है !"

कन्हैयालालने कहा—उसने माफी माँगकर न छूटनेकी कसम खाई है। और उसे पापका और बिरादरीका डर है। इस भयको ही दम कह लीजिए।

मैं चुप रह गया।

भूतकी कहानी

तमाम शहरमें, जो जानकार हैं उनमें, इसीकी चर्चा है। हम भी जब बैठ उसी चर्चाको ले रहे। वास्तवमें उस अँगरेजने अन्तर्दृष्टिका अद्भुत ही चमत्कार दिखाया है। कठिन साधनासे उसने वह तुरीय दृष्टि पाई है जो बहुत दूर तक कालके अँधेरेको भेद कर छिपी बातको प्रकाशमें ले आती है। शहरमें समस्त उपलब्ध साधनोंसे उसकी ख्याति सर्वविश्रुत बना दी गई है कि उसके अन्तर्ज्ञानसे लाभान्वित होनेसे वञ्चित रहकर अवकाश किसी व्यक्तिको न रहे।

एक लक्षाधिपतिका पुत्र बाईस वर्षका हो गया था और अविवाहित था। कुछ पढ़-लिख भी गया था और पिछले एक-आध सालसे दूकानकी गद्दीपर भी सँभलकर बैठने लगा था। फिर भी अविवाहित था। जिस आयुमें दो पुत्रोंका पिता उसे हो जाना चाहिए, उस आयुमें अविवाहित था। और जिस आयुमें विवाहकी और विवाहित वस्तुकी और विवाहोपरान्तके तत्कालको पानेकी अमर उत्कण्ठा होती है, उसी आयुमें उसमें विवाहके नामपर एक अटूट उपेक्षाका ही भाव देखा जाता था।

पिताने इस ज्ञानीकी शरण ली, और उसकी पूरी फीस भरनेके बाद उसे यह ज्ञात हो जाने दिया कि उसकी थैलियाँ इससे तनिक भी खाली नहीं हुई हैं, और उन्हें उनके मुँह खुलने न खुलनेकी विशेष चिन्ता नहीं है,—बस उसका मनोरथ पूरा होना चाहिए। और पुत्र भी, अपनेको बदलनेके लिए, अच्छा व्यय कर सकता था। इसके परिणाममें जन्मान्तरका और लोकोत्तरका एक ऐसा सत्य उक्त अँगरेजने उद्घाटित कर दिखाया कि सेठजीका मनोरथ सिद्ध हो गया, शहर चकित हो गया, और हम लोग बहस कर पड़े।

कुछ दिन योग और प्रयोगमें बिताने आवश्यक हुए। आत्म-शुद्धि सम्पन्न करनेमें इस तरह दिन लगाने आवश्यक हो ही जाते हैं, क्योंकि, हम लोग सब मलिन, पार्थिव और दैहिक जीवन यापन करते हैं। आत्मिक स्तरपर अपनी सम्पूर्ण चेतनाको ले जानेके लिए अत्यन्त सात्त्विक आहार, एकाकी काल-यापन,

अन्तर्मुखी गुप्त चर्या, सेवाश्रित निश्चिन्त जीवन, नियुक्त ध्यान आदि आदि आवश्यक होते हैं।

तो, चतुर्थीकी तिथिको, ब्राह्म मुहूर्तमें, आकस्मिक प्रकाशकी भाँति आत्माके भीतर ज्ञानोदय हुआ कि लक्ष्मीके उस वरद पुत्रके प्रथम जन्मकी विवाहिता पत्नी सद्यः जीवित है। इसीकी विस्मृत-सी स्मृति उक्त युवाकी सुप्त चेतनामें अबतक कुछ-कुछ विद्यमान है और वहींसे उस विवाह-सम्बन्धी अचिन्तनीय उपेक्षाका जन्म है।

उस 'विधवा—सधवा'के स्थानके सम्बन्धमें अक्षांश और देशान्तर रेखाओं और नक्षत्रोंकी गति-विधियोंके गूढ़-हिसाबमेंसे निकालकर जो परिचय उक्त गौराङ्ग व्यतीत-ज्ञानीने दिया, उससे देखा गया कि वह स्थान युवकके निकट सर्वथा अज्ञात, अदृष्ट और अचिंत्य था।

किन्तु ज्ञानीके इस परिज्ञानद्वारा उद्बोधन पाकर सहसा ही पूर्व-भवकी स्मृतियाँ सोते-से जाग पड़ीं, और वह युवक तबकी रत्ती-रत्ती बातें ऐसे बताने लगा कि आज ही बीत रही हों। और बड़े-बूढ़ोंने बताया, उनमें रञ्च-मात्र अन्तर नहीं है।

और, देखिए तो...! दस बरसकी अवस्थासे विधवा होकर रहनेवाली वह बत्तीस बरसकी आयुकी गत-यौवना उक्त युवकके घरमें प्रवेश करते ही नवेली दुलहिनकी भाँति घूँघट काढ़कर पतिके पैरोंमें आ गिरी, और रो उठी, 'ओ मेरे स्वामी, मुझे छोड़ कहाँ गये थे,— मेरी सुध अब तुमने ली है!'

और लोगोंने इस ज्ञानीके आगे माथा झुकाया।

२

तो इस चर्चाको लेकर हम बैठे और भटक पड़े।

डाक्टर ज्ञानविहारीने कहा—हम 'असम्भव' शब्दको बहुत शीघ्र आगे न ले आयें। यह दीवार है, जो हम जरा दिक्कत होते ही, अपने सामने ला खड़ी करते हैं। यह आदत बुरी है। 'असम्भव' शब्दकी जड़में आलस्य है। आलस्य ज्ञानका शत्रु है। प्रश्न है कि जो प्रत्यक्ष है, वर्त्तमान है, क्या वही हमारे ज्ञानकी परिधि है? नहीं, परिधि नहीं है, प्रत्युत, प्रत्यक्षमेंसे ज्ञानका आरम्भ है। उसके विकासकी दिशा प्रत्यक्षके बाहर है, भीतर है, वर्त्तमानके आगे और पीछे है;

—प्रत्यक्ष और वर्तमानकी ओर नहीं है, उनसे विमुख है। जब यह है, तो भविष्य निश्चयसे अज्ञेय क्यों है, और भूत अज्ञात क्यों ?

प्रोफेसर विद्या-स्वरूपने गम्भीरतासे कहा—ज्ञानके निकट भूत अज्ञात है, भविष्य अज्ञेय है; कल्पनाके निकट दोनों अगम्य नहीं हैं। कल्पना ज्ञान नहीं है इसलिए, जो ज्ञात है वह प्रत्यक्ष ही हो सकता है। जो प्रत्यक्ष नहीं है वह ज्ञात भी नहीं है, ज्ञातसे कुछ कम है।

डा० ज्ञान०—कल्पना ज्ञानकी वाहिका है। दोनोंमें तलाक कौन चाहता है?

मि० छैलविहारी माथुर—तलाक !—भाई, मैं चाहता हूँ। मैं नई चाहता हूँ।

एडवोकेट खन्ना—सपना क्या वस्तु है? क्या वह अंकुशविहीन कल्पना ही नहीं है? किन्तु, क्या उससे ज्ञान बढ़ता है?...लेकिन मैं कहता हूँ, वह अँगरेज चालाक है। मैं तो यह भी कहता हूँ कि वह कानूनकी पकड़में क्यों नहीं आ सकता?

एडीटर मि० ए० बी० बेडर—तो आप 'मेस्मेरिज़्म' और 'आकल्टिज़्म' के लिए कोई आधार नहीं छोड़ना चाहते? इन विज्ञानोंपर जगत्की उत्कृष्ट बुद्धि और विपुल द्रव्य खर्च हो रहा है।

मि० माथुर—चाहें तो आप खर्च हो सकते हैं। मैं अपनेको इन बातोंमें खर्च नहीं कर सकता।

मि० बेडर—ठीक है, मि० माथुर।

मि० आनन्दमोहन—ज्ञानसे किया, तरकीबसे किया,—आप इसपर मनन करें। लेकिन इस अँगरेजने किया खूब। पिछले जनम तो एक क्यों अनेक हैं, असंख्य हैं।—इस तरह हो, तो मनचाही बीबियाँ मुफ्त मिल सकती हैं। यह बात तो खूब है !

चौधरी गजराजसिंह—पूरब जनम अवश्य होता है।

मि० माथुर—लीजिए साहब, चौधरी साहबको भी चाहिए। इनका नाम भी उस महात्माको लिखवाइए।

एडवोकेट खन्ना—'मेस्मेरिज्म' और 'आकल्टिज्म' की बात मि० बेडरने की है। क्या कोई जानता है वह क्या है?

डाक्टर ज्ञानबिहारी—जिन द्रव्योंका हमें साधारण प्रक्रियासे बोध होता है, कुछ उनसे सूक्ष्मतर द्रव्य भी हैं। उनका साक्षात् सीधा बोध ही हमें हो सकता

है। मध्यवर्ती ज्ञानेन्द्रियाँ उनके दर्शनकी वाहिका नहीं होतीं। उसके लिए विशिष्ट शक्तिकी आवश्यकता होती है। वह शक्ति उपार्जनसे भी होती है, प्रदत्त भी होती है। उसीके प्रयोग-भेदसे ये दो विद्याएँ हैं।

मि० बेडर—मेस्मेरिज़्म और आकल्टिज़्मका मतलब वह जानता है जो कुछ मानता है।

मैंने कहा—तो जो आकल्स्ट कहते हैं, हम मानें?

डाक्टर—क्यों नहीं मानें?

विद्यास्वरूपने कहा—तो न माननेको क्या रह जायगा?

डाक्टर ज्ञान०—बेशक, यही मुश्किल है कि फिर न माननेके लिए क्या शेष रखा जाय? यह मुश्किल मेरे सामने अबतक है। मुझे तो सब झूठ सच लगता है। जब है, तो झूठ झूठ कैसा? होने मात्रसे वह सत्य हुआ। इसीलिए मैं नहीं कहता कि आप मेरी बात मानें।

विद्यास्वरूप—मानने लायक होती तो मानते—

मैंने पूछा—तो भूत-प्रेत, यक्ष-किन्नर हैं?

विद्यास्वरूप—वे तो हैं—

चौ० गजराजसिंह—मैंने भूत देखे हैं—

विनोदने पूछा—आँखों देखे हैं?

माथुरने कहा—मैंने भूतसे बदतर आदमी देखे हैं।

चौधरी गजराजसिंहने झिझकते हुए कहा—देखे!—देखे नहीं,—हाँ,—

डाक्टर ज्ञान०—भूत आदि फिर ऐसे द्रव्य हैं जो सबको नहीं दीख सकते। और जिनको दीखते हैं, वे प्रमाणित नहीं कर सकते।

मैंने कहा—जो मानते हैं उनको ही दीखते हैं। देखनेसे पहले उन्हें मान लेना होता है। मानने और दीखनेमें उनके ऐसा अविनाभाव-सम्बन्ध है कि यही कहना होगा कि भूत आत्मजनित है।

डा० ज्ञान०—यह ठीक मालूम होता है। जो अनुमान और तर्कना और बुद्धिके सहारे भूततक पहुँचते हैं, वे भूत कभी नहीं देख पाते,—'भूतकी धारणा' देख पाते हैं। और जो सीधा भूत देख लेते हैं, वे भी उसे अपनेमेंसे ही निकालकर देखते हैं। अपनेसे बाहर हम कुछ नहीं देख-जान सकते...लेकिन, फिर भी भूत क्यों नहीं हैं।...

और डाक्टर ज्ञानविहारी स्वयं अपनी उलझनमें पड़कर शङ्कितसे हो उठे।

आनन्दमोहनने कहा—अच्छा, किसीने भूत देखा भी है ?

जो हममें समझते थे कि उन्होंने देखा है, मालूम हुआ कि उन्होंने सुनकर 'समझा' है कि देखा है।

मैंने तब विनोदसे पूछा—विनोद, तुमने इतना कुछ देखा, भूत नहीं देखा ?

विनोदने कहा—देखा तो कुछ-कुछ है।

माथुरने कहा—विनोद भी अजब शै है। अब तक हज़रत गुपचुप ही बैठे रहे, लो अब कुछ मजेकी बात कहो।

विनोदने कहा—मैं मजेकी बात तो जानता नहीं। अपने भूतकी बात कह दूँगा।

हम सबने कहा—हाँ-हाँ-हाँ।

डा॰ ज्ञानने भी कहा—हाँ, कहो, मैं सुनूँगा।

२

विनोदको आप जानते होंगे। बड़ी बातें जानता है, पर कहता छोटी बात ही है। कहता है, जो छोटी बनाकर न कही जा सके वह बात बड़ी कैसी ? जो बड़ी बात डरावनी, दुर्बोध बनकर ही सामने प्रकट हो सकती है, स्पष्ट है कि उसका बड़प्पन ऐसा बना हुआ, शिथिल है, कि भयका, दुर्बोध्यता और जटिलताका सहारा न हो तो धूलमें आ गिरे। इसलिए वह बहसमें कम पड़ता है, कहानियाँ अधिक सुनाता है।

विनोदने कहना शुरू किया—

"मैं भूतकी कहानी सुनाऊँगा। जो बीत गया वह भूत है। मैं बीत जाऊँ तो भूत हो जाऊँ। मैं मिट तो सकता नहीं, क्योंकि कुछ मिटता नहीं। किन्तु 'बीत गया,' इसका अर्थ हुआ,—वर्तमानसे 'मिट गया'। ऐसी अवस्थामें मैं भूत बनकर वर्तमान रहूँगा।—आदमी बनकर मेरा रहना समाप्त हुआ कि भूत बनकर मैं जी उठूँगा। वर्तमान है, इसीलिए अवर्तमान भी है। अवर्तमान भूतापेक्षया वर्तमान है। इसलिए भूत अवर्तमान अवश्य है, किन्तु, सत्य है;—आप देख ही सकते हैं कि वह व्याकरण-सिद्ध है। अतः प्राणी जब मर जाता है तब व्याकरणद्वारा वह भूत होता है। यही आगम-कथन है।

"आपको वह सुनाऊँगा जो मेरे साथ बीता है। बीता है, इसीलिए वह भूत है, तिसपर भी भूतकी बातको लेकर वह बीता है, इसलिए भूत ही भूत है। और मेरे साथ बीता है इसलिए मेरा भूत है,—आपका हो न हो यह मेरा जिम्मा नहीं। अपनी और अपने भूतकी बात मैं आपको सुनाऊँगा।

"'नेति, नेति' परमात्माकी सबसे सुन्दर, सबसे यथार्थ, और सबसे अन्तिम परिभाषा है। यों सहस्र-नाम-स्तोत्रमें भक्तकी तृप्ति नहीं।...

"यह भी नहीं है, वह भी नहीं है, कुछ भी नहीं है,—फिर भी तो है,—भूतके होनेको, अन्तिम सौन्दर्यके साथ, इसी तरहका होना कहा जा सकता है। किन्तु भक्तगण सहस्र-गुणस्तवन और लक्षौपाधि-पाठके प्रचारमें अतृप्त दीख पड़ें तो इसमें भूत नामक द्रव्यका उत्पात आप न मानें, यह तो उनकी भक्तिकी महिमा और विशेषता है।

"जो तुच्छ बुद्धि मिल गई है और जो तुच्छ व्याकरणज्ञान पा गया हूँ, उन दोनोंको लेकर कभी कहनेका अपराध न कर सकूँगा कि 'भूत नहीं है।' और बहुत ही लाचार करोगे तो मैं धर्म-सङ्कट मानकर कह दूँगा, 'भाई, अच्छी बात है, तुम कहते ही हो तो मैं कहे डालता हूँ, भूत नहीं है।' मैं जोखम नहीं लेना चाहता। और राह ही न छोड़ोगे तो अधिक जोखमकी बातसे बचकर कम खतरेकी बात ही कहूँगा, 'भूत नहीं है।'...

"कह दो 'मैं कायर हूँ।' पर तुम्हारे कहनेसे भी मैं न कहूँगा, मैं 'सर्वज्ञ हूँ।'

"तुम कहोगे, जब सर्वज्ञ नहीं हूँ तो क्यों कहता हूँ, 'नहीं है।' मैं कहूँगा कि, सर्वज्ञ नहीं हूँ, ठीक इसीसे कहता हूँ, 'नहीं है': क्योंकि नहीं कह सकता 'है।'

"जो कहता है 'है' उसकी सेवामें यह साग्रह निवेदन है कि सोचे कि सच, क्या वह ठीक कहता है?

"फिर भी जो कहता है 'है', उसे मेरा प्रणाम।

"किन्तु हर व्याकरणकी प्रवेशिकामें देखा है, 'भूत काल है।' कहीं नहीं देखा, 'भूत काल था।' अर्थात्—भूत है, और काल है। या भूत काल है, इससे है।

"हर हालतमें भूत काल है। भूतको जिसने देखा काल-रूपमें ही देखा। और काल-रूपमें भूत सदा 'है' है, 'था' नहीं है, इसलिए 'नहीं' नहीं है।

" जिससे मौतें हो गई हैं और हो रही हैं; जिसमें क्षणिक विश्वासके कारण मैं मौतके इतने निकट पहुँच गया जितनी स्वयं उसकी छाया; और जिसमें लगभग तात्कालिक अविश्वासके कारण मैं बचा और अब यहाँ हूँ;—उसीको मैं आप सज्जनोंके सामने कैसे न कहूँगा 'है।' विश्वास-अविश्वास, ये मानसिक वृत्तियाँ हैं। जिसको लेकर उन वृत्तियोंमें बल आता है उसीको क्यों न कहूँगा कि 'है, और खूब है।'

" भूत 'है' ही नहीं है, वह जोरके साथ है, क्योंकि वह शक्ति है।

" मेरे 'नहीं' कहनेका तात्पर्य है कि वह होना कम चाहिए। यहाँतक कि हो ही न, तो हर्ज नहीं।

" किन्तु मैं तो कहानी कहता हूँ।...यह इतना इसलिए कहा कि आपके और मेरे बड़प्पनकी रक्षाका भी कुछ सामान हो जाय। कहानी छोटी चीज है। छोटी ही उसे रखनी चाहिए। किन्तु आप बड़े हैं, और मैं भी छोटा क्यों रहूँ, इसलिए कुछ बड़ी-सी बातोंसे मैंने उसे बड़ी कर दिया है।"

अच्छा, सुनिए—

४

" बिन-घरनी घर जिनका डेरा हो जाता है उन जीवोंके पास क्या साधन हैं कि घड़ी की-घड़ी जान लें कि 'अमुक घर बिन-घरनी हुआ है, चलो, चलकर वहाँ डेरा जमायें,' यह तो मैं नहीं जानता; लेकिन, उसी रोजकी बात है जिस दिन श्रीमती घरके बहुतसे सामानके साथ, बाल-बच्चोंके और अपने भाईके साथ, मैके चली गई थीं। उन कम्बख्त भूतोंने एक रोजका भी तो अवकाश मुझे न दिया। छुट्टीकी पहली रातको मैंने जो भुगता उससे समझ लिया कि जीते-जी ऐसे छुट्टी मेरे भागमें नहीं है। मैं दूसरे ही दिन ससुराल चला गया और जितना सहा सहकर, बिगाड़-तोड़ करके भी मैं छठे सातवें रोज घरपर आ गया।

" उस कमरेमें, व्यवस्थाको अदल बदल करके, एक मेज लगा दी गई। दो नये गुलदस्ते खरीदकर उसपर रखे गये। श्रीमती बच्चोंको नौकरके साथ घूमने भेजकर, और नौकरानीको खूब अच्छी तरह काममें लगा छोड़कर, पास सोफेपर अपने स्थूल मांसल शरीरको आधा-सा लिटाकर पूछने लगीं, 'पान नहीं खाओगे?' और बिना पान दिये हँसने लगीं। और यह क्रम रोज ऐसा दुहराया जाने लगा कि मुझेके

डोरोंके किनारोंसे घिरी आँखें और मुसकराते हुए ओंठ, और साड़ी और जम्परके भीतर घिरी देहकी सान्निकटता और सुरभि, इनसे हटकर जब मन किसी भी दूसरी ओर जानेसे इंकार करने लगा,—तब जीमें जी आया।"

मि० माथुरने कहा—तब भी जी न आ जाता—

विनोदने कहना जारी रक्खा "श्रीमती समस्त श्रेय अपना मानते हुए मन-ही-मन प्रसन्न होकर उलहना देतीं कहतीं, 'बड़े वैसे हो!—ऐसा मुझमें क्या है जो एक रोज भी अकेला तुमसे नहीं रहा जाता। मौका ही आ जाय तो तुम क्या करो,-दौड़-दौड़कर वहीं मेरे पास आ जाया करो—

"मेरे मनमें उस समय होता कि हाय! अरे, अपने छुट्टीके दिन काटकर, अपनी इच्छासे उन्हें घरसे ले आनेवाला मैं न था। रामराम, ऐसा मूर्ख मैं नहीं हूँ। पर ये भूत!...और मैं कहता—मुझसे ही पूछोगी, ऐसा तुममें क्या है?

"कहतीं—हाँ, बताओ...

"मैं कहता—बताऊँ...?

"वह—हो तो कुछ बताओ न।

"मैं—तो बता ही दूँ? देखो बहुत कुछ है, सब बता दूँ?

"कहकर मैं भेदके भावसे उनकी ओर देखकर मुसकराने लगता।

"तब वह झटककर कहतीं—यह हर घड़ीका मजाक हमें अच्छा नहीं लगता। हाँ तो...

"और वह चलनेको मानो उतारू होकर उठ पड़तीं।

"जिसपर मैं कहता—अच्छा, नहीं बताता। पर, तुम जाओ मत।

"और वह बैठ जातीं, कहतीं—अच्छा न होगा जो अब मजाक किया... हाँ तो, नौकरानी आ जाय—

"इसका तात्पर्य यही होता था कि मैं स्वस्थ हो जाऊँ कि नौकरानी अभी नहीं आ रही है—

"ऐसी रस-भरी संध्याएँ एक-पर-एक इकट्ठी होकर मनपर जमने लगीं, तो, जो कुछ ही रोज पहले मेरे साथ हो गुजरा था, उसका दबाव मनपरसे हट गया और अलग रक्खे चित्रकी भाँति मैं उसे सम्पूर्णतामें देखने योग्य हो गया।

५

" उस रोज रातको देर करके घर लौटना मेरा धर्म न था। मैं सही शामसे ही घरपर आ रहा। सोचा था, एक शीतलपाटी और लोई लेकर फर्शपर ही सो रहूँगा। रात गुजरती ही तो है, धरतीपै क्या, पलंगपै क्या? और रात गुजरी कि दिन होते ही मेरे मनमें गौरव भर आयगा कि वियोगकी पहली रात कितनी ठीक वियोगीकी भाँति ही मैंने काटी है।

" अक्टूबरका महीना था। आठ बजे थे। हल्की-सी सर्दी हो चली थी। मैं अपने नीचेके खास कमरेमें तकिया डाल चटाईपर पड़ रहा। किताब हाथमें ले ली कि नींद जल्दी आ जाय। दूधिया बिजली खोल दी।

" गड़गड़ाहटकी आवाज़ आई। बूँदा-बाँदी होने लगी। ऊपरकी खिड़कियाँ खड़ खड़ कर उठीं। मैंने लोई ऊपर ले ली और किताबमें जी लगाया।

" जी लगा नहीं। किताब तकियेके पास औंधी धर दी। देखा—सुई साढ़े नौ पर आ गई है, किवाड़ खड़ खड़ कर उठते हैं, और यह घड़ी ताकमें बैठी चुपचाप टिक-टिक करती जा रही है।

" साढ़े नौ बज गये हैं, किन्तु नींद तो मुझे आई नहीं है। तो क्या बत्ती बन्द कर दूँ? मैं बटन दबा देनेके लिए उठकर खड़ा हुआ, बढ़ा, कि सुकोने कहा—बाबूजी, नीचे सोओगे?

"सुकिया महरी है। रोज नीचेकी सामनेवाली कोठरीमें सोती है। आज अभी तक नीचे उतरकर आई नहीं है। ऊपरकी मञ्जिलहीपर चढ़ी पूछ रही है—'बाबूजी नीचे सोओगे?' अर्थात् 'बाबूजी, मैं भी नीचे ही सोऊँ?' सुकियाके दाँत मिस्सीसे काले हैं, और लाल किनारीकी धोती पहनती है।

" मैंने कहा—सुको, सब किवाड़ बन्द कर ले, हवा बहुत है। और तुम ऊपर ही सोओ।

" बाबूजी, मैंने यहाँ बिछा दिया है। बहूजी फिर मुझसे कहेंगी..."

" बिछा दिया है तो तुम जानो। मैं यहाँ ही सो जाऊँगा।"

" उसने कहा, 'अच्छा', और वह ऊपर छज्जेपरसे खड़ी देखती रही कि मैं बत्ती बुझा देता हूँ, और चटाईपर आ पड़ता हूँ।

" मेरे मनमें थिरता नहीं आई। नींद भी नहीं आई। बिना ऊपर देखनेका

साहस किये मैं देखने लगा कि मिस्सी-रंगे ओठोंको खोलकर सुकिया पूछ रही है, 'बाबूजी, नीचे सोओगे?' मैंने देखा कि उन खुले होठोंको किञ्चित् खुला ही छोड़कर देख रही है कि मैं क्या कहता हूँ। सोचती है कि कहूँगी, "ऊपर मैं कभी सोई नहीं हूँ, अकेले डर लगेगा।' और जब कहता हूँ, 'ऊपर सो,' तो वह और बात भी नहीं कहती है, कहती है, 'अच्छा,' और छजेपर खड़ी देखती है कि क्या मैं उसके बाद और कुछ भी तो नहीं कहता हूँ?

"मैं लेटे लेटे अँधेरेमें यह सब कुछ देखने लगा। क्या वह अब भी छज्जेपर खड़ी देखती ही है?

"मैंने कहा—सुकिया,...

"ऊपर कमरेके भीतरसे आवाज आई—'आई...'

"मैंने कहा—कुछ नहीं। नीचेसे अपना बिस्तर तो ले गई हो न?

"आते आते छज्जेपर रुककर उसने कहा—बिस्तर क्या, यों ही सो जाऊँगी, बाबूजी। आपको नींद नहीं आती है क्या—

"मैंने कहा—नहीं क्यों आयगी नींद।

"यह सुनकर, कुछ ठहरकर, वह फिर कमरेमें चली गई।

"उस समय चटाईपरसे ही अँधेरेको कन्वास बनाकर अपने मनके प्रकाशमें मैंने देखा, सुकिया मिस्सी लगाती है, लाल किनारीकी साड़ी पहनती है। इससे पहले जैसे यह सब कुछ नहीं देखा था, इसी क्षण आविष्कार करके देखा है। और इसके पीछे जो है, वह भी मानो देखा।

"बाहर दालानमें ठहर-ठहरकर टप-टप पानी टपकता था और हवा भी अभी बन्द न थी।

"मैंने तकियेमें मुँह छिपाकर कहा—नींद, आ।

"मुझे लगा, हवासे भारी, भीगी और गरम साँस-सी कोई चीज कमरेमें घूम रही है। हलकी लूकी तरह कोने-कोनेमें टकराती हुई वह घूम रही है। छातीपर दबाव वह कभी दे जाती है। थकी-सी मानो वह डोल रही है।

"सिरसे पैरतक मैंने ऊपर लोई तान ली। सिर ढक गया, और घड़ी कर रही थी टिक-टिक और पानी टपक रहा था। मैंने कहा—नींद, आ।

"फिर धीरे धीरे सब कुछ मिलने लगा और उड़ने लगा। क्रम न रहा, शृङ्खला न रही, उद्देश्य न रहा,—गति ही गति मानो रह गई। तसवीरें दीखने लगीं,

जो भागती उड़ती थीं, और एक दूसरेमें मिलती-खोतीं, भागती ही चली जाती थीं। समय मिट गया और प्रत्यक्ष सब मर गया। जो अप्रत्यक्ष था, अवास्तव था, वह ही सब कुछ इस अँधेरेको पट बनाकर जुलूसमें गाता-रोता गुजरता जाने लगा। मेरा कमरा कहीं न रहा और मेरे सामने कलकत्ता आया और बम्बई बनकर रह गया, और उसकी सड़कपरसे भागती हुई मोटरमेंसे झपटती हुई श्रीमती निकलीं और तत्क्षण सारे चित्रपटको घेरकर मेरे ऊपर मुसकराती हुई छा रहीं, कि क्षणमें वह भी लुप्त और...

"मेरी चेतना मेरे वसमें न रही। चित्र अधिकाधिक शीघ्रतासे बनने और मिटने लगे।

"तभी बाहरके दरवाजेपर सुन पड़ा—ठक-ठक्, ठक-ठक्।

"आती-आती नींद टूट गई। किन्तु क्या मैं जग गया!

"ठक-ठक्, ठक-ठक्...'

"बूँदें बन्द थीं और हवा धीमी हो गई थी। मैंने अपनी लोई सिर परसे हटा ली। ठक-ठक् मैंने सुना। सिर दबाया, मुँहपर हाथ फेरा,—हाथ पसीनेसे भीग गया। मैं जागता था। ठक-ठक् कुछ नहीं है, मेरा भ्रम है।

"ठक-ठक्, ठक-ठक्...

"लेटे लेटे मैंने एक नजर दर्वाजेपर डाली। कुछ न था। डर-सा लगा। मैंने झट मुँह लोईमें कर लिया।

"किन्तु आवाज आती रही। मैं सुनता रहा और लोईमें बन्द रहा। आवाज भ्रम नहीं है। भीतर ही भीतर मेरा साँस तेजीसे आना-जाना शुरू हो गया।

"मैंने स्पष्ट देखा, ठक-ठक्में एक क्रम है, कुछ नीति है।—मैं घबराने लगा।

"आठ-दस बार मानो बँधे सङ्केतके अनुसार उसी प्रकार ठक-ठक् हुआ।

"मैं काँपने लगा। मैंने मुँह खोला और ढका। ढका और खोला। आवाज होती थी और ठहर जाती थी, और फिर होती थी। मेरे माथेपर पसीनेकी बूँदें खड़ी हो आईं। मैं थरथराता था। मेरे भयका त्रास मुझे असह्य होने लग गया। तब उसमेंसे साहस उपजा। मैंने जोरसे कहा—कौन है?

"मेरी आवाज अपने ही जोरमें गूँजी, और फिर सन्नाटा हो गया।

"मैं साँस रोक, फिर लोईमें मुँह करके रह गया।

" पाँच-सात मिनट सुन्न सन्नाटा रहा, जिसमें घड़ीकी टिकटिक ऐसी लगी जैसे छाती पीटती हो।

" और फिर वही—ठक्-ठक्! ठक्-ठक्!!

" मैं अब कुछ बोल न सका, दर्वाजेकी ओर मुँह फेर कर देखनेके योग्य भी मैंने अपनेको न पाया।

" मैं अपनेको लोईके भीतर कसकर लपेटकर पड़ रहा कि फिर आवाज हुई ठक् ठक्! और उसके बाद किसीने कहा—खोलो।

" ऊपर पड़े लोईके आवरणको, मेरी मूर्छा और मेरे भयको, तोड़कर अपनी राह जाता हुआ यह ' खोलो ' अधजगी-सी मेरी चेतनापर आघात देकर लगा। ' खोलो! ' तो कोई भीतर है, जिससे आशा है कि वह सुने और खोले? कौन है जो खोलेगा, और वह कौन है जो ऐसे विश्वासके साथ आधी रातमें द्वार थपथपाकर कहता है ' खोलो '?

" मैंने पड़े पड़े अँधेरेमें आँखें फाड़कर दर्वाजेकी ओर देखा। सन्नाटा ही सोते साँपकी तरह साँस ले रहा था और पौरमें अँधेरा घना होकर चुप खड़ा था। क्या उस अँधेरेमें कोई है, कुछ है? पर कुछ न था, अँधेरा ज्योंका त्यों फौजी संतरीकी तरह अडिग, अडोल, जमा खड़ा था। आरामकी साँस लेकर तकियेपर सिर डाल फिर मैं लेट रहा।

"...सुकियाकी ने आँखें कैसी थीं! अँधेरा होनेपर भी जैसे कुछ देर दीखती ही रहती थीं। वह ऊपर ही सो रही है न?...सो ही तो रही है न? और मैं,—सो नहीं रहा हूँ, जाग रहा हूँ। सुकियाने सुना होगा, ' खोलो! '...लेकिन यह किसने कहा है ' खोलो '?...

" हलकी हलकी धीमी आवाज आई, जैसी दरवाजा खुलनेमें आ ही जाती है, बचाई नहीं जा सकती। मैं भयसे चौकन्ना हो गया। हिम्मत न हुई पौरकी ओर देखूँ, पर सारा शरीर कान बनकर उसी ओर लग रहा। शरीरपर काँटे उठ आये जैसे चेतना रोमोंकी राह फूटी उठ रही हो,—वे उग्र चैतन्यके साथ मानो द्वारकी ओर टँक रहे।

" भीत साहसमें मैंने उस ओर आँख करके देखा—अँधेरा हिल रहा था और वहाँ कुछ था। क्या था?—देखा, द्वारमेंसे चाँदकी किरणें आकर बाईं ओरकी दीवारपर लम्बी होकर फैली हैं। जरूर दरवाजा खुला है और ज़रा खुला रह गया

है, और उसमेंसे चोरी करके आती हुई यह चाँदीकी मोटी सफ़ेद लकीर अँधेरेको और काला बना रही है।

"उस तिमिरांध पटपर मेरे देखते देखते दो आकार उभरने लगे। स्पष्टसे स्पष्टतर वे होने लगे। मैंने सहसा देखा उनमें एक स्त्री है एक पुरुष है। पुरुषने स्त्रीके कानमें कुछ कहा। तभी देखा कोई तीसरा भी है जो पुरुष है। स्त्रीने हाथ उठाकर निर्देश किया और मैं देख उठा,—तीरके नोककी तरह स्त्रीके हाथकी वह उंगली मेरी ओर तनकर टिक रही।

"मैं मुँह लोईके भीतर छिपा भी न सका। कलेजेको चीरती हुई भीतरसे चीख़ निकली 'सुक्को!' पर गलेतक आते आते घुटकर रुक गई, ध्वनि बनकर बाहर न निकल सकी। अपने भीतर आकंठ, अवरुद्ध प्रभंजनकी भाँति अन्धाकांक्षामें फूटनेकी राह माँगती हुई उस मूक चीख़को लेकर मैं विकल हो उठा।

"इतनेहीमें वह उँगली वहाँसे उठ गई और मूर्तियाँ क्षणमें हो विलुप्त गईं।

"मैंने आँख फाड़कर देखा,—और कुछ न था। चाँदीकी किनारीकी वह शुभ्र रेखा दीवारपर सीधी खिंची हुई बैठी थी।

"मैं चटाईपर सीधा हो बैठा, छातीको हाथमें लेकर बोला—हाय राम!

"किन्तु सुकियाके नीचेके सोनेवाले कमरेमें कुछ था। मेरा मन संदेह और ग्लानिसे भर गया। अपना माथा मैंने दाबकर पकड़ लिया। छिः छिः! सुकिया लाल किनारीकी साड़ी पहनती है, क्या अब भी पहन रही है?

"मैं लेट न सका, बैठा ही रहा। क्षोभ आता और विक्षुब्ध बनकर रह जाता। मैं उठ उठ रहनेको होता और बैठा रह जाता।

"उस कोठरीमेंसे कुछ आवाज़-सी आने लगी। आवाज़ ज्यों ज्यों बढ़ने लगी, मैं खड़ा होने लगा और एक निश्चयका उदय मनमें होने लगा। सोचा, जाकर दरवाजेकी कुण्डी लगा दूँ, फिर देखूँ क्या होता है।

"मैं उठकर चला। किन्तु जाते जाते उस कोठरीके पास आया कि ठहर पड़ा। कान लगाकर सुननेसे जान पड़ा, भीतर कुछ हो रहा है जरूर, किन्तु जान न पड़ा क्या। मैंने कहा—अन्दर कौन है?

"सब सुनसान हो गया।

"मैंने कहा—अन्दर कौन है?

"और सब सुनसान रहा।

"मैंने दरवाजेमें धक्का मारा, वह भीतरसे बन्द था। मैं झपटकर दूसरे दरवाजेसे गया। वह खुला था, पर भीतर किसीका पता न था। मैंने कहा, 'कम्बख्त चले गये!'

"अबतक कुछ न था, उत्सुकता-सी ही थी। अब विफलतासे क्रोध उत्पन्न हुआ। उसी कोठरीमें एक टूटा डण्डा-सा पड़ा दीखा। उसे उठा लिया और दरवाजेकी ओर झपटा। किन्तु पाया,—पौरका द्वार बन्द था। और कुछ न देखा, और मैं लौट पड़ा।

"आँगनके पास आता हूँ कि देखता हूँ, वह सामने सुकिया है, और उसके दो साथी भी साथ हैं। सब अँधेरेमें ऐसे मिल गये हैं कि अँधेरेका ही वस्त्र पहने हैं। मैंने कहा—बदमाशो!

"सुक्का मानो दहशतसे वहीं बैठ-सी गई। उनमेंका एक मेरी ओर एक कदम बढ़ा। उसकी लम्बाई समझमें नहीं आती थी। वह मेरे सामने बड़ा ही होता चला गया। यहाँतक कि एक दानव-सा लगने लगा। वह मेरी ओर आने लगा। हम पन्द्रह कदम एक दूसरेसे दूर होंगे, और वह दो मिनट तक लगातार स्थिर डग रखता हुआ मेरी ओर बढ़ता रहा। फिर भी मैंने देखा, वह मेरे पास नहीं आ पाता, वह उतनी ही दूर है।

"खतरेके सामने मेरी चेतना सम्पूर्ण सजग हो गई थी। खूब अच्छी तरह देख रहा था, और खूब अच्छी तरह सोच सकता था। किन्तु, वह भयमें आक्रान्त रही होगी। मैं भय-विकृत साहससे भर रहा था। मैंने कहा—ठहरो।

"किन्तु कोई ठहरा नहीं, और वह दानव वहीं रहता हुआ भी, कदम-कदम मेरी ओर आता ही रहा।

"मैंने देखा, उसके दायें हाथकी मुट्ठीमें कुछ है। लगा, पिस्तौल है। फिर लगा, कुछ और है, बघनखा है।

"इस अनुभूतिको उत्पन्न करके भय अपने-आपमें इतना दुर्विसह्य हो उठा कि उसके नीचे अदम्य चेष्टासे भर रहनेके अतिरिक्त मुझे और चारा न रहा। मेरे रोंये खड़े हो गये और मैंने डण्डा तान लिया।

"अब वह दानव रुक-सा गया।

"मैंने कहा, 'रा कम्बख्त!' और मैं आँखें मींच, डण्डा उठा, उस ओर

भाग छूटा, जैसे मौतमें मैं झुक पड़नेको छूटा होऊँ। पता न रहा क्या है, क्या नहीं है।

"और आप लोग हँसें नहीं, मेरा डण्डा जोरसे दीवारमें लगा। और वह लगा नहीं कि मेरा सिर उसी जोरसे दीवारमें जा टकराया। हाथ झनझना गया और सिर सन्न होकर रह गया।

"...और अगले रोज मैं ससुराल चला गया।"

६

"मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि कोई आदमी न था, चोर न था,—इस लिए अवश्य भूत ही था।

"यह भी मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि उस पहाड़-से भयके भारी बोझके तले मैं कुछ देर और भी रहता तो जीता न रहता। सिर टकराकर मूर्छित हो जा सका सो ही जी सका।

"और मैं जानता हूँ कि अगर मैं कहूँ कि उस भयानक मनुष्यात्मक भूतका सृष्टि-कर्ता मैं था, तो यह गलत होगा। नहीं कहा जा सकता कि उसमें सुकियाका हाथ न था। इसी भाँति नहीं कहा जा सकता कि जिन्हें मैं जानता हूँ उन सबका किसी न किसी तरह उसमें भाग न था। इससे उस भूतका सिरजनहार सबका सिरजनहार ही था।

"मैं अपनी कहानी कह चुका। अब आप उसपर क्या कहते हैं?"

डा० ज्ञान०—कहानी बहुत ठीक है।

मैं—ठीक नहीं, मैं अच्छी चाहता हूँ।

डा० ज्ञान०—कहानी ठीक है, और अच्छा होना उससे भिन्न नहीं है।

मि० माथुर—कहानी तो खाक-धूल है! न सिर न पैर। लेकिन उस लाल पाड़की धोतीवाली सुकिया महरीको तो, विनोद, एक बार हमें भी जरूर दिखाना।

व ' गँवार

विनोदने कहा, "आप 'अच्छा', 'बुरा' कहते हैं। मैं नहीं कहता। आदमियोंमें कौन अच्छा, कौन बुरा। सब अच्छे सब बुरे। सब ही अपनी अपनी तरहके हैं। हरएक वह है जो है,—अपनी तरहका एक है। हर कोई 'मैं' नहीं हूँ। और हम सब 'वह' नहीं है।...उनमें श्रेणियाँ करने लगो तो उतनी करनी होंगी जितनी उनकी संख्या। फिर उनमें ऊँच-नीच भी न होगा।...अच्छाई बुराई है। अर्थात् अच्छाई बुराई, यों न हो, जीवनकी शर्तके तौरपर हैं। बुराईको हराकर अच्छाई अपनानेका उद्देश्य लेकर आदमीमें चेष्टाका जन्म है। कुछको हराकर दबा देना होगा, और, कुछ और तक उठकर उसे पा लेना होगा। यह न हो (यद्यपि, अत्यन्त वास्तवमें यह है नहीं, फिर भी, हमारी समझके लिए ऐसा न हो) तो, जीवनका अर्थ ही विलुप्त हो जाय, हम जी न सकें।...इस तरह, अच्छाई बुराई है।...पर अच्छे-बुरे होनेको कोई जगह नहीं है। अच्छाई-बुराईको अच्छी तरह समझ देखें तो अच्छा-बुरा मानकर काम चलानेकी आदतसे छूटें,—उस प्रकारकी आवश्यकतासे ऊपर हो जायँ। आदमी ही अच्छा-बुरा होने लगा जाय, तो देव-दानव किस लिए हैं?—इसीलिए, कि हम भूल न करें, आदमी अच्छा-बुरा नहीं है, आदमी आदमी है।...आदमीको प्यार करो, बुराईका पातक दानवके माथे डालो।... जानते हो, सदाचारका पैमाना लेकर, झट नाप-तोलकर, आदमियोंपर अच्छे-बुरेका लेबिल चिपका देकर काम चलानेकी बान डाल लेनेका क्या परिणाम हुआ है? —हममें विषमता फूट उठी है, हमारे बीचमेंसे प्रेम उठ गया है। जानते हो, एकको सदाचारी कहकर उसे सामाजिक सम्मान दे उठने, और दूसरेको दुराचारी कहकर उसे जेलमें ठूँस देनेको उद्यत रहनेका क्या परिणाम हुआ है? —समस्याएँ बढ़ी हैं और हम हीन रह गये हैं।"

विनोद बोलता रहा। और किसीको बीचमें कुछ कहनेका अवकाश जैसे उसने नहीं दिया—

"...और जानते हो, क्या परिणाम हुआ है? लोग लेबिलपर जाते हैं। जिसको सदाचारी समझ लिया जाता है, वह अपनेको दुराचारी समझना छोड़ देता है। हम उसे यह समझनेमें मदद देते हैं, और फलतः वह दम्भी बनता है। इस तरह आज देखते हैं कि जो भद्र माने जाते हैं उसी श्रेणीके लोगोंमें, वस्तुतः, अच्छे बननेकी चिन्ताकी सबसे अधिक जरूरत है। उनके हाथमें शासन-दण्ड है, समाजदण्ड है,—मानो, वह अब शैतान बन जायँ तो भी सज्जन हैं। दम्भ उनमें जमकर बैठा है। जहाँ आत्म-निरीक्षणकी वृत्ति होनी चाहिए वहाँ पसरकर आलोचना बैठी है।...हम जो यहाँ हैं, सम्भ्रान्त हैं। मैं कहता हूँ, हम तनिक भी सभ्रान्त नहीं हैं। हम बस कठिन हैं। आँसू हमारे पास कम हैं, हृदय हमारा परुष है,—अनुभूतिहीन हो सका है, सो ही हम पैसेवाले, संस्कृति, शिक्षा और सभ्यतावाले भले लोग हैं। वह दिन आये कि हमारी धारणा ढीली हो कि हम सभ्य, शिक्षित, संस्कृत, सम्माननीय हैं। तब हम सहसा ही देख उठेंगे, हम कैसे अधम, निम्न हैं। उनसे बुरे हैं जिन्हें हम बुरा समझते हैं।..."

विनोद यहाँ कुछ ठहरा, देखा, मानो कहा—शङ्का हो तो करो, और निवारण करो,—नहीं तो वह आगे बढ़े।

हम सब सुन रहे थे। विनोद सबका विरोध लेनेको तैयार होकर कभी ऐसी बातें कह उठता है जिन्हें समझनेकी हम कभी जरूरत नहीं समझते। न कहूँगा, वे अनसमझीकी बातें हैं। ऐसा कहनेमें मेरी ओछी भी होगी। क्योंकि विनोदकी विचारशीलताकी उनपर धाक है, जिनकी मुझपर धाक है। होगी उनपर धाक। अपनी वे जानें। जो कहता है, हमें तो उसमें कुछ लुत्फ मिलता नहीं। पहले तो समझ नहीं आतीं। सौमें एक बात समझे भी तो बेमज़ा। सिर खपाओ तब समझो। और ऐसे समझनेसे क्या हाथ आये, पता नहीं।

हममेंसे एकने पूछा—विनोद, यह क्या कह रहे हो? जानते हैं, तुम बहुत जानते हो। पर बात सँभालकर कहो।

विनोद मुसकराकर रह गया। मानो कहा—सँभालकर वह कहे जो सँभला न हो, या जिसे शङ्का हो।

मित्र बोले—तुमने कहा, वह दूसरे शब्दोंमें यह है कि आदमीमें अच्छाई-

बुराई है; पर, जिसमें अच्छाई है वह अच्छा नहीं: बुराई है, वह बुरा नहीं !—क्यों यही न ?

और मित्र जोरसे हँसे—अह···ह···ह

हमने देखा कि विनोद अब फँसा। उसे पता न होगा, बातोंका जो झमेला-सा खड़ा कर रहा है, उनमें आप ही फँसना होगा।

विनोद—ठीक यही मैंने कहा—

मित्र जैसे हँसना चाहकर भी नहीं हँस सके। बोले—फिर अच्छाई-बुराई आदमीके भीतर होनेका मतलब ? और फिर बुराई दूर करके अच्छाई अपने भीतर लानेमें सचेष्ट होनेका अर्थ ? अच्छे-बुरे जब हम हो ही नहीं सकते, तो कहाँका पाप-वाप, छोड़ें सब झगड़ेको।

मुझे यह अच्छा नहीं लगता। और नहीं, तो पाप-पुण्यपर ही खपो। यह तो नहीं कि कुछ कामकी बात हो। न हो, एक लतीफा ही सही।

मैंने कहा—विनोद, छोड़ो इस झञ्झटको। न कोई अच्छा सही, न बुरा सही। फिर भी, अच्छाई-बुराई सही। जो कहो, माना। पर, विनोद, कोई मजेकी चीज सुनाओ, कोई लतीफा सुनाओ।

विनोद—कहानी ही सुनाता हूँ। उसीका यह सिर है। या कहो पूँछ है। आदमी एक ऐसा जानवर है जो बिना पूँछ है। इससे बिना सिर हो वह, तो भी मुजायका नहीं। पर, कहानी वैसा जानवर नहीं।···और, मैं फैशन नहीं जानता। फैशन जाननेके लिए रुकना भी नहीं चाहता। हाँ, वह आपका अर्थ ? उसी अर्थपर जोर देनेका मेरा यत्न है। मैं चाहता हूँ, कुछ हो हमारे लिए जो हमें सदा अस्वीकार्य हो,—एक निषेधका आधार, जिससे हमारा सम्बन्ध निषेधका, खण्डनका, युद्धका ही हो। जिसके साथ समझौता हम किसी भी भाँति न करें। उसीको मैं कहता हूँ 'बुराई।' फिर वह भी कुछ हमारे साथ हो जो सब युद्धोंमें हमारी टेक रहे।—वही अच्छाई, वही सत्य। इस तरह सत्यको और असत्यको अत्यंत स्वयंसिद्ध Positive बनाकर हम जीयें। तब देखेंगे, हम सदा लड़ते ही चलते हैं। सत्यके प्रति निरन्तर लगन असत्यके प्रति निरपवाद अन-समझौतेके भावसे हमें भरा रखती है। अब, मैं यह भी चाहता हूँ कि प्राणीमात्रके,—वस्तुमात्रके साथ हमारा ऐक्य हो, प्रेमका सम्बन्ध हो। यहीं वह तुम्हारा अर्थ आता है। हम बुराईसे सदा लड़ेंगे ही। और कोई चारा नहीं है, कोई बचाव नहीं

है। पर जिसमें बुराई है, इस कारण, क्या उससे प्रेमभाव रखनेसे हम वञ्चित हो जायँ ? नहीं इसकी इजाजत नहीं है। इसीसे मैं कहता हूँ कि हम मानें, बुराई जिसमें है, वह बुरा नहीं है। मेरी उस बातका अर्थ यही है। अच्छाईको भी मनुष्यसे इसी भाँति हम अलग करके समझें। तब हमारा लोगोंमें समभाव स्थिर हो। यह समझकर चलें, तभी त्राण है। इसीमें मैं 'सदाचार'का उपदेशक नहीं हूँ, विरोधी हूँ। क्योंकि, उससे दम्भ बढ़ता है। मैं समझता हूँ, मेरी बात अब आपकी समझमें आ रही है।

कोई यह माननेको तैयार न था कि बात उनकी समझमें नहीं आ रही है। और सब यह मान रहे थे कि बात समझमें आ रही है, और यह भी समझमें आ रहा है कि वह व्यर्थ है।

पर मेरे पास प्रतिष्ठाकी कोई गठरी नहीं है, जिसकी रक्षाकी मुझे चिन्ता रहे। मैंने कहा—विनोद, मैं तुम्हें इस तरहकी बात और न करने दूँगा, जिसका सिर नहीं दीखता, पैर नहीं दीखता, पर पेट ऐसा दीख पड़ता है कि उसमें दुनिया खो जाय। तुम जब कहानियाँ कह सकते हो, फिर ऐसी वाहियात बातें क्यों ले बैठते हो ? और···

विनोदने कहा—एक दिन मैं···

अब हमारे जीमें जी आया, और टाँग फैलाकर, अपनी अपनी कुर्सियोंमें सँभलकर हम बैठ रहे।

२

विनोदने कहा—

एक दिन मैं फिर विद्याधरके यहाँ जानेकी जरूरतमें पड़ गया। मित्र विद्याधरको आप न जानते होंगे। आपकी लाइनकी कोई लियाकत उसमें नहीं है कि आप उसे जानें। विद्याधर सर्वथा साधारण है। एक सभाके दफ्तरमें क्लर्क है। और मुश्किल यह है कि बरसों-बरस अपनी निजकी चेष्टासे हमारी सम्भ्रान्त श्रेणीसे विच्छिन्न होकर वह साधारण बना है। खैर कुछ हो, मेरे लिए उसकी बड़ी लियाकत यह है कि वह अपनेको लायक नहीं समझता। मैं भी बहुत उससे नहीं मिलता। जरूरत होती है, तभी मिलता हूँ। जरूरत क्यों होनी चाहिए, यह आप पूछ सकते हैं। हम सम्भ्रान्त कैसे जो निम्नसे मिलनेकी जरूरत हमें हो ! किन्तु मैं आपसे कहता हूँ, मैं अपनेको लेकर कभी कभी बड़ी दुविधा,

बड़े क्लेशमें हो जाता हूँ। फूट फूटकर मुझे अपने आँसू बहाने होते हैं। यहाँ आपके सामने विज्ञ धीमान बनकर घंटों हँसता हुआ जो बड़ी बातें सुनाता रहता हूँ, सो इसी कारण कि घड़ी-आध घड़ी अकेलेमें किसी अज्ञेयके सामने, धरतीपर लोटकर, अपनेको अज्ञ निम्नातिनिम्न बनाकर रो लिया करता हूँ। खैर, जब जी ऐसा होता है, बे काबू हो जाता है, भीतरसे फटकर बहना चाहता है, और मुझे चारों ओर एक ऊष्म उसाँसका वलय घुमड़ता हुआ ऐसा दीखता है जैसे विकल हो, हाय! कि वह तरल होकर टप-टप टपक क्यों नहीं जाता,—तब मैं चुप, सिर हाथमें लेकर बैठ रहता हूँ,—कहीं नहीं जाता। और, कुछ रुककर विद्याधरके यहाँ जाता हूँ।

मैंने विद्याधरके कमरेमें प्रवेश किया और देखा कि एक आदमी जूतोंके पास, टाटपर, कमरेकी छत देखता हुआ बैठा है और विद्याधर मेजपर चिट्ठी लिखनेमें लगा हुआ है।

मैंने अँगरेजीमें विद्याधरसे कहा—विद्याधर, यह किसे बिठाल रखा है?

विद्याधरने एक साथ मेजपरसे मुँह उठाया—क्या!

उसने भी देखा कि एक आदमी बैठा हुआ है। जैसे उसे यह पता न था। विद्याधरने उससे कहा—मैंने आपसे कह दिया था, स्वामीजी यहाँ नहीं हैं। मुझे मालूम न था, फिर भी आप बैठे ही रहे हैं।

वह ठेठ गँवार था, सिरपर साफा था, बोलना आता नहीं था, हाथमें एक सोटा, आर्यसमाजी था।

वह घबड़ा-सा गया, बोला—मैं हरज कर रहा हूँ, जी? बैठा हूँ,—कहैं, चला जाऊँ।

और वह मानों यहीं जूतोंके निकट बैठे रहनेके लिए हमारी कृपाकी याचना कर उठा।

विद्याधरने कहा—आप बैठना ही चाहें, अवश्य बैठिए। और आगे आ जाइए, आरामसे बैठिए।

वह—जी, मैं बस ठीक हूँ। स्यामीजीके दिरशनको आया था।...और काम नहीं था। मैं यहाँ, जी, बिलकुल ठीक बैठा हूँ।

विद्याधर चिट्ठीपर झुक रहा, साथ ही मुझसे बोला—कहो विनोद, आज क्या है? सब ठीक नहीं है?

मैंने कहा—पहले मैं इस आदमीको यहाँ नहीं चाहता। क्या बेडौल, बेढङ्ग आदमी है!

विद्याधर—पता नहीं, क्यों बैठा है। यह तो नहीं दीखता कि उसे बैठनेको ठौर यहीं हो। कुछ बात होगी।

मैं—विद्याधर, तुम भी कहाँ रहते हो! जहाँ हर ऐरागैरा आ जाय, और हम दो बात करना चाहें, सो न कर सकें।

विद्याधर—जरूरत हो तो मैं उठकर बाहर चल सकता हूँ।

मैंने कहा कि उसकी जरूरत नहीं। और मैं चुप हो रहा।

ठहरकर विद्याधरने कहा—विनोद, यह आदमी बैठा है तो उठाना कैसे हो। इन आदमियोंके पास भी अपना इतिहास, अपनी वेदना, अपनी समस्याएँ हैं। और इनके पास समाधानकारक दम्भ नहीं, सामर्थ्य नहीं। हम तुम किताबें पढ़ते, बात करते हैं। इनका इसमें भी वश नहीं। विनोद, तुमको बुरा नहीं मानना होगा कि वह बैठा है।

मेरे मनमें अपनी वही बात आवर्तमें आवर्त देती हुई घूम रही थी। मैंने कहा—विद्याधर, कल मैं गया था। मैं कब तो जाता हूँ।···वह बोली नहीं, इन्कार कर दिया। तुम जानते हो, एक दिन वह था—

विद्याधरमें अचरज नहीं है और वह सदा स्वस्थ है। उसने कहा—इन्कार कर दिया?

मैं—इन्कार!—इन्कार नहीं, वह काममें लगी रही। मैं पाँच मिनट रहा, उसे फुर्सत नहीं हुई। मैं चला आया।···विद्याधर, मैं अन्धा हूँ। सूझता नहीं, दीखता नहीं,—क्या करूँ? वे भी दिन थे···

विद्याधर गम्भीर हो गया। गम्भीर वह कम होता है। उसने कहा—विनोद, तुम उसे नहीं जानते। पुरुष स्त्रीको नहीं जानता। वह स्त्री तुम पुरुषको नहीं जानती। भगवान दोनोंको जानता है। निराशा-आशा दोनों उसके चरणोंमें चढ़ा दो। नहीं तो आशा तुम्हें जलाये रखेगी, निराशा तुम्हें खा जायगी। ऐसा ही उसके साथ होगा। विनोद, यही होता है। आदमी आदमी है, उसके जीनेका यही उपाय है। अपने मरनेका भी उसने यही ढङ्ग बनाया है।

विद्याधर ऐसी गम्भीर वाणीमें कह रहा था कि मैं सहम गया। मैंने कहा—

मैं तुम्हें सारी बातें सुनाऊँगा, विद्याधर। सब सुनाऊँगा, कुछ नहीं छिपाऊँगा। पर यह आदमी···

और मैंने सोच लिया, इस गँवार आदमीको मुझे ही लेना होगा। मैंने पूछा—कैसे आये हो, भाई तुम, और कैसे बैठे हो?

वह बोला—जी, स्यामीजीके दिरशनको आया था। स्यामीजी गाम पिधारे थे। लकचर हुए थे। तभी मैंने संकलप किया, दिल्ली आकर स्यामीजीके थानमें दिरशन करूँगा। ऐसा उपदेस दिया कि आँखें खुल आई। हम अँधियारेमें सोते पड़े थे। स्यामीजीने ऐसा जगाया, कि जनम जनम जस मानेंगे।···

पन्द्रह रुपये मासिक पाकर इस सभाका वह निकम्मा उपदेशक स्वामी,—जो गाँव गाँव उपदेश देता डोलता है और जो किसी ओरसे कुछ नहीं है; नितान्त बिना पेंदी, बिना सिर है, और जो पेट ही पेट है: उसी अकर्मण्यका यह गँवार जस गा रहा है! मैंने अपना माथा ठोक लिया। पूछा—तो बैठे कैसे हो?

उसने कहा—जी स्यामी तो हैं नहीं। बैठा था कि इन बाबूजीको फुर्सत हो तो कहूँ, कुछ ज्ञानका उपदेस सुना दें।

मैंने कहा—इनको तो फुर्सत नहीं हो सकेगी! और यह उपदेश भी नहीं सुनाया करते।

वह बोला—हाँ जी, उपदेस तो बस स्यामीजी देते हैं। चित परफुल्लित हो जाता है। पर, हम जैसोंको इनका ही बहुत है···और, सोई, मैं देख रहा हूँ, बाबूजीको फुरसत नहीं होगी। और मैं चुप बैठा हूँ, कुछ कह नहीं रहा हूँ।

मैंने कहा—तो फिजूल क्यों बैठते हो?

वह अपराधीकी भाँति त्रस्त हो उठा।

"···जी, मैंने पूछ ली थी, हरज तो नहीं कर रहा हूँ। हरज कर रहा होऊँ, तो मैं अभी उठकर चला जाता हूँ। मैं तो यों ही बैठा था। बैठा, सान्तीकी बात कुछ सोच रहा था।"

मैंने कहा—हरजकी बात नहीं, तुम्हारा वक्त भी तो खराब होता है। तुमको और भी तो दस काम होंगे। गाँववाले बेकाम नहीं होते।

उसने कहा—बखत तो, जी, यहाँ मेरा अच्छा होता है। खराब गाममें होता है, ऐसा खराब होता है कि जी, हफ्तेके हफ्ते यहीं आकर बैठ जाया करूँगा और, काम तो लगा ही रहता है। जहाँ पेट है, वहाँ काम है। पर, एक रोज कभी

कभी भगवान्‌के नामका भी तो देना चाहिए । कामसे खाली एक दिन भी नहीं रक्खेंगे तो उसे क्या देंगे । सो आजके रोज तो मैंने संकल्प किआ है कि मैं कोई कामकी बात नहीं सोचूँगा । ये ही स्वामीजीने कहा था । कहा था—'भागवानो भगवानको कुछ दो ।' सो तब रुपया-पैसा जो सकती थी दिआ । उन्होंने ये भी कहा था, सातवें-आठवें एक दिन भी भगवानके नामका निकाला करो जिस रोज कोई कुकरम नहीं करना, सान्ती चित्तसे रहना । सो मैंने आजका रोज़ रख लिआ है, आज मैं कामकी कोई बात नहीं सोचूँगा । परमारथकी सब बात सोचूँगा ।

मैं चुप हो रहा । मैं समझ गया, यहाँ मेरी एक न चलेगी । मैं हार बैठा । वह गँवार भी चुप हो रहा ।

मैंने कहा—विद्याधर, जाने यह आदमी कहाँसे आ मरा है । इसने मुझे हल्का कर दिया है । जी होता है, इस गँवारपर, रोष क्या करूँ, हँस पड़ूँ । क्या विचित्र जीव है !···अब मुझसे अपनी बात कहते क्या बनेगी । और यह भी यहाँसे क्या टलेगा ।

विद्याधरने कहा—विनोद, तुम विश्वास रख सकते हो, यह आदमी स्वयं अपने मनके भीतर इस समय हल्का नहीं है । इसके साथ भी कुछ है जो गाँठकी तरह बन्द है, और भारी है ।

मैं चुप हो गया । सभी चुप थे । ऐसे कुछ देर निकली ।

तभी गँवारने कहा—जी, मेरे पास पचास रुपये हैं । मैं उन्हें कहाँ दान करूँ ?

हम दोनोंने उसकी ओर देखा । क्या वह पचास रुपये दान देनेके लिए आकर ही वहाँ जूतोंके पास अपना स्थान बनाकर बैठा है ?

"जी, मेरी आमदनी डेढ़ सौ रुपया माहवारसे ज्यादाकी नहीं है । हियाव और करूँ, और दया कम पालूँ, और उसीके पीछे पड़ा रहूँ, तो कुछ और बढ़ सकती है । बढ़से वह दो सौ हो जायगी । पर मुझे ऐसे दो सौका क्या करना है । डेढ़ सौका ठीक-ठियाव मुझसे नहीं होता । मेरे एक लड़का है जो उमरवाला हो गया है । वह मेरी फिकर कर सकता है, सो उसकी मुझे फ़िकर नहीं है । आप खाने जोग उसके पास है, सो बहुत है । पचास रुपयेमें हमारा खरच खूब चल जाता है, उसमेंसे भीड़ पड़ेके लिए कुछ बचाकर

भी रख सकते हैं। सो मैंने सोचा है, सौ रुपया महीनेके महीने मैं किसी भगवान्के काममें लगा दिआ करूँगा। हर पखवाड़े मैं आप आकर पचास पचास दे जाआ करूँगा। बाबूजी, मुझे बताओ मैं रुपए कहाँ दे जाआ करूँ? ऐसी जग्गह बताओ जहाँ देकर दो दीनोंको सुख मिले, और भगवान् भी आसीरवाद दें, और मेरे चित्तको भी खूब सांती मिले।..."

विद्याधरने कहा—तुमको चाहिए, तुम यह रुपया किसीको न दो। रुपया लेनेवाले सब हैं। पर जो देनेवाले हैं उन्हें मैं कहता हूँ, न दें।

उसने कहा—बाबूजी, मेरे चित्तको सान्ती नहीं है। कैसे हो सकता है, मैं नहीं दूँ। मैं तो अपने स्वारथको देता हूँ।

विद्याधरने अनाथाश्रमका पता बताकर कहा—तो जाओ। वहाँ देना, और पचासकी रसीद ले आना।

उसने मानो हाथ जोड़कर कहा—बाबूजी, देकर मैं फिर यहीं आ जाऊँ? मैं रातसे पहले गाम नहीं पहुँचना चाहता। आप ठौर दे दो तो सबेरे जाऊँ,—रात यहीं काट दूँ।

विद्याधरने कहा—हाँ, देकर यहाँ आओ, तब देखा जायगा।

वह गँवार बहुत धन्यवाद देता हुआ वहाँसे चला गया।

३

विद्याधरने कहा—देखते हो? अब तुम अपनी बात शुरू कर सकते हो।

किन्तु, मैं अपनी बात शुरू नहीं कर सकता था। मनकी स्थिति वह नहीं रह गई थी। मुझपर असर पड़ा था। मैं जानना चाहता था कि क्या लेकर उस गँवारमें यह पागलपन उठा है कि रुपये दे डालना चाहता है, पास नहीं रखना चाहता। और इस जमानेमें सौ रुपये जैसी रकमको प्रतिमास दे डालनेका सामर्थ्य और गौरव अपने पास रखते हुए भी वह किस भाँति इतना गौरवहीन, गर्वहीन, विनयावनत है कि जूतोंके पास बैठता है, रिरियाकर बोलता है, ऊपर आँख मिलाकर नहीं देखता। यह मात्र अज्ञता है? मज्जागत निम्नता है?—क्या है? और जो भी है, क्या वह अनुपादेय है, हेय है?

मेरे मनकी बात मनमें ही गड़कर नीचे रह गई, ऊपर यह गँवारकी बात आकर फैल गई। मैंने कहा—विद्याधर, अपनी बात कहूँगा। कहे बिना रहा जायगा? नहीं रहा जायगा। पर इसके लिए फिर कभी आना होगा।...विद्याधर, मैं क्या असहिष्णु

हूँ, मैंने क्या जिन्दगीमें कुछ कम सहा है, कम जाना है, कम सीखा है ? पर, इस बीतीके सामने मैं सबका सब रखा रह गया हूँ, खोया रह गया हूँ। किधरसे भी मेरा कुछ बस नहीं चलता। उसमें मेरे प्रति ऐसी उपेक्षा आ बसी है कि जब देखता हूँ, जी होता है पहले गोली मार दूँ, फिर चूम लूँ, फिर अपने सीनेमें गोली मारकर, सब साधके साथ, आप ठण्डा हो जाऊँ। यही नहीं, तो ऐसा ही कुछ, अब तक कभीका हो जाता।—पर, सोचा, तुम हो। मैं नहीं मरूँगा।

छैलबिहारीने कहा—विनोद, विनोद, यह सब कुछ तुमने कहा ? उस विद्याधरसे तुमने—तुमने ?—यह कहा ! सच बोलो, यह सच कहा ?

विनोदने अपनी वही विनोदशील दृष्टि इम सब लोगोंके ऊपर उठाकर हमें देखा। बोला—हाँ, विद्याधरसे ही यह कहा। क्या और किसीसे कह सकता था ? कह सकता हूँ ? और क्या विद्याधरसे झूठ कह सकता हूँ ?···तुम मुझे विनोद जानते हो। विनोद हूँ, पर आदमी हूँ।

और मैंने विद्याधरसे कहा—विद्याधर, नहीं, मैं न मरूँगा। और कोई इस तरहका काम नहीं करूँगा। यही है तो आशाके शवको जीमें लिये रहकर जिऊँगा, तब तक जब तक कि या तो उस शवमें साँस चल आये, या उसे दाह कर भस्म कर दूँ।···लेकिन अभी मैं भी न कहूँगा, तुम भी न सुनोगे। हमारे बीचमें राह काटकर यह गँवार आ निकला है। इसको अपनी राह तै करते हुए हमारे बीचमेंसे निकल जाने दो। तब तुम सुनोगे, और तब मैं कहूँगा। अभी तो, विद्याधर, मैं जाता हूँ। वह आदमी लौटकर फिर तुम्हें मिलेगा। उसकी बात मैं जानना चाहता हूँ। हो तो मिलना। तुम तो कभी घर आते नहीं। शायद ही कहीं जाते होगे। तुम ऐसे ही बने हो। मैं तुमपर ईर्ष्या करता हूँ, विद्याधर, ईर्ष्या। तो, तुम नहीं आओगे ? खैर, मैं ही आऊँगा।

विद्याधरने कहा—विनोद, बहुत ठीक हुआ है कि बीचमें वह आदमी आया है। मैं कहता हूँ, उसके भीतर भी कहीं गहरा चीरा लगा है। पर, उसका दर्द तुमसे भिन्न है। वह खिंचना नहीं, मुड़ना चाहता है। दुनियामें ऐसा ही है। कोई अफरा है, कोई भूखा है। एकको चूरन चाहिए दूसरेको नाजके दर्शन नहीं। पर, विनोद, वक्त बड़ी चीज है। उसका नाम काल है, पर अमृत भी कोई और नहीं है। काल अमृत है। अपनी राह जाये जाओ, दिन आते-जाने दो और बीतते जाने दो,—गहरे-से-गहरा घाव नहीं जो इस विध भर न

जाय। मुझसे अवश्य कहो, पर, यह भी अवश्य करो। प्रेम गड्ढा छोड़ जाता है, कालका काम है बैठा-बैठा ऐसे गड्ढोंको भरे। वह प्रेम भयावह है जिसमें अभाव नहीं तृप्ति है,—वह तभी तब घृण्य हो उठता है। उसमें कविता नहीं रहती, मानवता नहीं रहती; निरी कामुकता रहती है। प्रेम प्रेम तब है जब दोनों ओर अभाव है, दोनों ओर आशा शेष है, निराशा वर्तमान है। उस अभावमय भाव और आशा-सिञ्चित निराशाकी धूनी देकर जब हम विराट्की आरती करते हैं, कहते हैं—हे राम, मैं प्रतिक्षण मर रहा हूँ, पर तेरे लिए जी रहा हूँ,—तभी हमें आलोकमय जीवनकी स्फूर्ति प्राप्त होती है। विनोद, जो इस तरह एक बार मरकर जिया है उसने जीवनका स्वाद जाना है।···विनोद, निराशासे छुट्टी पानेके लिए मत मरो, उसे अपना लो, और उसे निर्माल्य बना लो। देवताको तुम्हारी निःशल्य वेदनाका अर्घ्य ही सर्वप्रिय होगा। इसी भाँति तुम निर्द्वंद होगे।

आप लोगोंसे मैं कहूँ, विद्याधरने यह सब कहा, पर लगा, जैसे वह अपनेको ही कह रहा है, मुझे नहीं कह रहा है। जब वह इस तरह कहता है, मुझे अतीव सुख होता है। मैं ही हूँ जो उसके हृन्मर्ममेंसे ऐसी गुह्य परमाकांक्षाके खिंच आकर बाहर उद्दीप्त हो उठनेमें उपयुक्त उपलक्ष्य बनकर काम आता हूँ,—यह पाकर मुझे सुख होता है।

मैं वहाँ और नहीं ठहरा, चला आया।

४

क्या आप समझते हैं, वह विद्याधर फिर मेरे यहाँ आया? पर, मैं कह रहा हूँ, वह आया।

मैंने कहा—आओ! धन्य भाग्य!

उसने कहा—वह आदमी लौटकर आया था। और मैं समझता हूँ, प्रति मङ्गलवारको आया करेगा। उसने एक प्रतिज्ञा ली है। प्रतिदिन उसे दोहराता है, और लगभग प्रतिदिन उसे तोड़ता भी है। अभागा उसीके त्रासमें सान्त्वना खोजता मंगलवारको मेरे दफ्तरमें आकर बैठा करेगा, और हर दूसरे मंगलवारको दानके पचास रुपए लाया करेगा। विनोद, तुम कुछ समझ सकते हो?

मैं कुछ भी नहीं समझ सका।

विद्याधरने कहा—अपने गाँवका पाँच आने हिस्सेका वह ज़मीन्दार है। धर्मकी ओर उसकी रुचि रही है। जलसे-सभाओंमें हिस्सा लेता रहा है। पैंतीस वर्षकी अवस्थासे विधुर है। लड़का उसका तब आठ वर्षका था। अब वह उन्नीस वर्षका है। बस एक साल बादकी बात है।

गाँवमें एक पुनिया रहती थी। अच्छे चलनकी वह नहीं समझी जाती थी। इस आदमीका उससे दूरका कुछ नाता भी था।

इसने जाकर उसे बहुत समझाया। वह कुछ भी नहीं कहती थी, रोने लगती थी। बचपनसे विधवा थी, औरोंकी वह सुनी-अनसुनी कर देती थी, इसकी कहन उसे सलती थी। वह इज्जत करती थी तो इसी आदमीकी। औरोंसे भरी राह रार करते उसे कुछ नहीं होता था। इसके सामने आँख ऊपर उठाना उसे भारी हो जाता था।

एक दिन किसीने कुछ सुना था, या देखा था, या क्या, कि लोगोंने पुनियाके द्वारपर आकर खोल-खोलकर उसे खरी-खोटी सुनानी शुरू कर दीं। वह तब भी सामने मुकाबलेको निकल आई और बकने लगी।

इतनेमें यह आदमी उधरको निकला। हजूम देखकर उधर जो चला तो देखता है कि यहाँ यह हो रहा है!

सीधे पहुँचकर दो थप्पड़ पुनियाको जमाये। पुनिया मारे लाजके बिल्कुल चुप हो गई। एक शब्द आगे मुँहसे नहीं निकाल सकी। इसने उसे बुरा-भला कहकर, धक्का देकर, घरके भीतर कर दिया।

फिर सामने इकट्ठे लोगोंको ललकारकर, डरा-धमकाकर, अलहदा किया।

लोग बुरी-भली कहते-सुनते राह लगे।

उसके बाद इसने घरके भीतर पहुँचकर कहा—कुलच्छनी, तुझे हया नहीं है। ऐसा हियाव तेरा कि खुले चौंतरे मर्दोंसे रार करती है!

पुनिया घूँघटमें थी। उसीमें बन्द, चुप रही।

इसने कहा—अबकी कुछ हुआ, काला मुँह करके गाँवसे बाहर करवा दूँगा, जो कुछ समझती है। नहीं तो, आबरूसे रह।

वह अपने माथेकी चोटको लेकर अलग बैठ रही।

धरतीको चोट देकर पैर पटकता हुआ यह आदमी अपने घर आ गया।

लेकिन लोगोंमें चर्चा फैली, आलोचना हुई। और मौक़ा पाकर वे फिर

पुनियाके द्वार इकट्ठे हो गये, और इसी आदमीका नाम ले-लेकर भाँति-भाँतिके व्यंगवाण भीतर फेंकने लगे।

मालूम करके यह आदमी तुरन्त वहाँ पहुँचा। एकत्रित समूहको सम्बोधन कर बोला—बेहयाओ, तुम मर्द नहीं हो, जानवर हो। हटो, पुनिया मेरे यहाँ रहेगी।

अन्दर जाकर जोरसे कहा—पुनिया, तुम यहाँ नहीं रहोगी। मेरे यहाँ रहोगी। फिर देखूँ, कौन क्या कहता है ! चलो, उठो।

पुनिया नहीं उठी, घूँघटमें बैठी रही। वह रोती थी।

"उठती है ?"

वह नहीं उठी।

झटककर उसका हाथ पकड़कर उठाते हुए कहा—

"चल, उठ। अभी चल, कम्बख्त।—नहीं चलती ?"

तब पुनिया उठी और धीमे धीमे, डग डग, बढ़ी।

उस घरमें ताला डालकर बिना कुछ कहे-सुने, चुप, पुनियाके पीछे-पीछे वह अपने घर आ गया। लोगोंमें सन्नाटा रहा। दोनों घर पहुँच गये, तब सबके मुँह खुल पड़े। इसको दस साल हो गये हैं।

और—और···फिर क्या हुआ !···एक बालक भी हुआ जो मर गया।··· पर जो हुआ, वह कहता है, उसमें पुनियाका दोष नहीं है। अपने स्वर्गको और परलोकको बन्धक रखकर, हा-हा खाकर, कहता है, पुनियाका दोष नहीं है। पशु वही है, वही है !

उसने प्रतिज्ञा की है। कर-करके हार चुका है, पर कौन भागवान दिन है जब वह नहीं टूटती। कहता है, मैं क्या करूँ, मैं सब कुछ करके हार बैठा हूँ, पर उसे सामने पाता हूँ तो सब भूल जाता हूँ।···और कहता है, वह ऐसी सती है कि सतजुगमें भी एक ही थी।

पुनिया तो पुण्यकी प्रतिमा है। पर, हाय, जाने उसको, उसको खुदको, क्या हो जाता है कि···।

और प्रतिज्ञा कायम न रख सकनेके साथ यह भी उसके भीतर कसक है कि वह पुनियाको जीत नहीं सका है। पुनिया उसके साथ सब-कुछमेंसे गुजरकर सदा निर्विकार ही रहती आई है। कभी भी उद्विग्न, अवश, बेकाबू, मोहापन्न, लोमहर्ष, नहीं हो उठी।—

विनोद, इसलिए यह सौ रुपया मासिकका दान है, और मङ्गलपर्वका व्रत है ! विनोद, इस तरह आदमी चलता है !

५

विनोदने कहा—इसलिए मैं कहता हूँ हम सावधान रहें,—क्या अच्छा, क्या बुरा।

मैंने कहा—विनोद, उस गँवारकी कहानी हुई, और दूर हुई। लेकिन, जिसकी झाँकी हम ले चुके हैं, उस तुम्हारी कहानीको हम तुमसे वसूल करके छोड़ेंगे।

मित्रने कहा—अच्छे-बुरेकी बात तुम्हारी सब फिजूल है। हमें वैसी बातें नहीं चाहिए। उनके लिए हम किताबें पढ़ लेंगे। तुमसे कुछ किताबोंसे ताजा चीज, हलकी चीज, तबीयतकी चीज चाहते हैं। ऐसी बातोंको हटा दो तो तुम्हारी कहानी खरा सोना हो जाय, खरा सोना। इस तरहकी इधर-उधरकी बेमतलब बातोंसे तुम्हें उसे मट्टी बना देनेकी जाने क्या आदत पड़ गई है !

विनोदने कहा—खरा सोना तुम चाहते हो ? अच्छा लगेगा, पचेगा नहीं। पर, शायद तुम्हें पचनेकी फिक्र नहीं।

मैंने कहा—अपनी बीती सुनाओगे ? कहो, सुनाओगे ?

विनोद—विद्याधरको सुनाऊँगा। विद्याधर बनो, तब सुनाऊँगा। पर तब कहोगे नहीं, सुनाओ।

सबने कहा—देख लेना, हम सुनेंगे।

कः पन्था

शहरके बड़े लोगोंने एक क्लब खोल रक्खा है, 'द वीज' (The wa's)। उस क्लबके सदस्य गिने-चुने हैं। इस शानके क्लब मैंने अमेरिका और विलायतोंमें देखे हैं, यहाँ तो दूसरा नहीं देखा। लाचार जब भाषण देने मैं पहली बार वहाँ गया तब लालचन्दसे मेरा परिचय हुआ। शहरके सबसे बड़े जौहरीका वह सबसे छोटा पुत्र था।

व्याख्यान समाप्त हो गया और क्लबके सदस्योंसे परिचय-लाभ कर जब मैं चलने लगा तब क्लबके मंत्री और लगभग अन्य सभी सदस्य हालके द्वार तक मुझे पहुँचाने आये। उस समय एक व्यक्ति आगे बढ़कर, खड़ी हुई मोटरकारका दरवाजा खोल, विनीत भावसे अभिवादनपूर्वक मेरे समक्ष आ खड़ा हुआ। निर्दोष उज्ज्वल खादीके वस्त्र पहने, विनयकी मूर्ति बना, इकहरे बदनका वह बाईस-चौबीस वर्षका युवा बालक मुझे बड़ा भला मालूम हुआ।

क्लबके मंत्रीने अँगरेजीमें कहा—मैं आपका परिचय तो करा ही न सका। काममें आगे बढ़कर नामके समय आप सदा पीछे ही रहते हैं। यहाँके मशहूर ...जौहरी आपके पिता हैं। आप हमारे क्लबके खजांची हैं, मिस्टर लालचन्द जौहरी।

मैंने कहा—मैं बहुत खुश हूँ।

लालचन्द अभिवादनमें तनिक झुका। मेरे साथ आते हुए मंत्रीसे उसने शुद्ध अँगरेजीमें कहा—ओह, तुम कष्ट न करो। आपको मैं ही स्थान पर पहुँचा दूँगा।

मैं मोटरमें बैठा और मेरे पीछे आकर लालचन्द मेरे बराबर बैठ गया। गाड़ी रोल्स रॉयस थी और जिस स्वाभाविकताके साथ उसने शॉफरको अमुक ओर चलनेके लिए कहा, उससे स्पष्ट था कि लालचन्द गाड़ीका मालिक है।

गाड़ी चली और कुछ देर लालचन्द चुप बैठा रहा। मुझे प्रतीत हो रहा था कि चुप ही बैठे रहनेके लिए शायद उसने मंत्रीको कष्ट न करनेका परामर्श

नहीं दिया है। वह कुछ कहना चाहता है, लेकिन कदाचित् उसे राह नहीं सूझ रही है।

तब मैंने कहा—तो आप जौहरी हैं। जवाहरातका काम भी करते हैं?

"जी हाँ, कुछ करता भी हूँ। मुझे लोगोंने यों ही क्लबका खजाञ्ची चुन लिया है।" स्पष्ट अँगरेजीमें उसने कहा, और कहता रहा, "आपकी वक्तृतासे मैं बहुत प्रभावित हुआ। मेरी बातोंके लिए क्या आप मुझे क्षमा करेंगे? आपने भाषणमें इंजीलके उस वाक्यको दोहराया था जिसमें लिखा है कि हाथीका सुईके छेदसे निकलना आसान हो सकता है पर धनवालेके लिए ईश्वरके राज्यमें प्रवेश पाना उससे भी कठिन है। मैं जानना चाहता हूँ कि क्या वह ठीक है?"

मैंने उस लालचन्द नामके बालक युवककी ओर देखा। दिखाई दिया, उसके मुखपर जिज्ञासा है। वह जैसे कृपाका प्रार्थी है। मानो वह अभी कातर हो आयगा। इंजीलके इस वाक्यके प्रति जैसे वह किसी प्रकार निश्चिन्त नहीं हो पाता है। मानो स्वर्ग-राज्यमें उसीके प्रवेश अथवा अप्रवेशका प्रश्न है।

मेरे मनमें उस बालकके प्रति करुणा हुई। मैंने पूछा—तुम्हारे प्रश्नका क्या आशय है?

उसने उसी शुद्ध और प्रभावोत्पादक स्वरमें कहा—यही कि मैं जानना चाहता हूँ कि इंजीलकी इस वाणीका क्या वही अभिप्राय है जो उसके शब्दोंका अर्थ होता है?

हमारी बातें अँगरेज़ीमें हो रही थीं। मैंने हिन्दीमें कहा—मेरे भाई, उस वाक्यसे क्या तुम्हें यह अनिवार्य रूपसे स्मरण हो आता है कि तुम धनशाली हो? क्या मैं पूछ सकता हूँ कि यह गाड़ी तुम्हारी है?

"जी हाँ, यह गाड़ी मुझे अपनी ही कहनी होगी। मेरे मनको शान्ति नहीं है। इंजीलका वह कथन मुझे अपने लिए अभिशाप मालूम होता है। किन्तु, मुझे सन्देह है कि उस-जैसे पवित्र ग्रंथमें किसी श्रद्धालुके लिए शाप हो सकता है। मैं जानना चाहता हूँ कि तब क्या वह वाक्य ज्योंका त्यों सत्य नहीं है?"

मैंने फिर सचिंता-पूर्वक लालचंदके मुखकी ओर देखा। देखा, मानो वह त्रस्त है। कुछ बोझ उसे बराबर दबा रहा है।

"क्या आप कहेंगे कि उसका अर्थ साधारण शब्दार्थसे कुछ भिन्न है?"

मैंने पूछा—तुम ईसाई तो नहीं हो न ?

"नहीं।"

"तब कौन धर्मावलंबी हो ?"

"मैं जैन हूँ। इससे आप असंतुष्ट तो नहीं हैं कि मैं जैन हूँ ?"

मैंने कहा—मेरे भाई, कैसी बात तुम कहते हो। लेकिन जैन होकर तुमको बाइबिलका एक वाक्यांश क्यों इस प्रकार सताता है ? जैन धर्म भी क्या ऐश्वर्यको इसी प्रकार अभिशाप ठहराता है ?

लालचंदने कहा—जैनधर्ममें सर्वोपरि त्यागकी महिमा है। सब कुछ तजना होगा। निर्ग्रंथ हो जाना होगा। परिग्रहकी ओरसे दिगंबर। किंतु, वैभव दुष्कृतका लक्षण है, ऐसा वहाँ कथन नहीं है। प्रत्युत वह तो पुण्यका फल ही बताया गया है।

मैंने कहा—तब तुम क्यों चिंतित होते हो ?

लालचंदने कहा—बहुत इच्छा-पूर्वक तो चिंतित नहीं होता हूँ। क्या चिंतामें कोई सुख है ? किंतु बाइबिलकी वह पंक्ति तो मेरे मनको लगती ही है। टालेसे टलती नहीं। आपकी वक्तृता सुनकर मैंने सोच लिया, आपसे मैं अपना प्रश्न पूछ लूँगा।

हम लोग चले जा रहे थे। मेरा स्थान अब दूर नहीं था। मुझे लालचंदका प्रश्न शास्त्रीय प्रश्नकी भाँति न लगा। मुझे प्रतीत हुआ कि इस बातको जीवित समस्या बनाकर यह लालचंद अपने लिए मानसिक क्लेश उपस्थित कर सकता है।

मैंने कहा—निस्संदेह, बाइबिलकी बात झूठ नहीं है। किंतु ऐसा इसलिए नहीं कि जड़ धन-संपत्ति बहुत बड़ी चीज़ है, प्रत्युत इसलिए है कि मनुष्य अति क्षुद्र प्राणी है। धन-वैभव क्या इतनी बड़ी वस्तु है कि परम सत्यको और स्वर्गके राज्यको अपनी ओटमें ढक ले ? अवश्यमेव नहीं है। पर यह बात तो इसलिए कही गई है कि मनुष्य इतना दुर्बल और दुर्बल होनेके कारण इतना अहंकारी है कि दुनियाके धन-वैभवसे अपनी दृष्टिको जकड़ लेता है। समझता है, वह अपनेको समर्थ बना रहा है, किंतु इस प्रकार धन-मदका सहारा लेकर वह अपनेको पामर ही बनाता है,—अपने चारों ओर मान-मर्यादाकी लकीरें खींच-कर अपनेको बंद और संकीर्ण ही बनाता है। धन-संपत्तिमें भी तो परम-पिताका प्रयोजन है, किंतु अति दीन, अति क्षुद्र मानव उससे अपनेको बाँध लेता है। मेरे भाई, इंजीलका कथन मनुष्यकी इसी क्षुद्रताके कारण है।

लालचंदके समक्ष जैसे लालचका द्वार खुला। किंतु यह उसे बंद ही रखना चाहता है। उसने आविष्ट स्वरमें कहा—तो स्वर्गका राज्य धनिकको अप्राप्य नहीं है ?

मैंने कहा—जिस प्रकार धनिकको यह अप्राप्य नहीं है कि वह अपनेको परम पिताका भिखारी और मनुष्यका सेवक समझे, उसी प्रकार उसे स्वर्ग और शांति भी अप्राप्य नहीं है।

लालचंदने पूछा—तो मैं यह मोटर रक्खे रह सकता हूँ ?

मैंने कहा—दे भी डाल सकते हो, और रक्खे भी रह सकते हो। देकर भी स्वर्ग तुम्हें अप्राप्य हो सकता है, और उसे रखकर भी तुम स्वर्गको प्राप्त पा सकते हो। मेरे बच्चे, तुमको क्या क्लेश है ?

मेरा स्थान पास आ गया था। लालचंदने कहा—क्या मैं कभी आपकी सेवामें आऊँ, तो आपका बहुत हर्ज होगा ?

मैंने—नहीं नहीं, मुझे बहुत खुशी होगी।

वह मेरे घरके दरवाज़े तक मुझे पहुँचाने आया। उसने मुझे प्रणाम किया। बहुत धीमे धीमे, मानो बोलनेमें उसे कष्ट होता हो, उसने कहा—मैं आपका बहुत ऋणी हूँ, लेकिन मैं आपका बालक हूँ।

मैंने कहा—मैं तुम्हें जानकर बहुत प्रसन्न हुआ।

अंतमें वह भक्ति-पूर्वक मुझे प्रणाम कर चला गया।

* * * *

उसके बाद लालचंद मुझे कहाँ मिला ? हाँ, एक-आध पार्टीमें, जहाँ मैं विवशतः ले जाया गया था, वह दिखाई दिया। सदा वही उज्ज्वल खद्दरका लिबास होता। चिंतित मुस्किराहटसे मुस्किराता वही मुख और हल्की समीरकी भाँति तरल शिष्ट व्यवहार। मैंने देखा, विनय-नम्र, संकोचके कारण बातचीतमें कहीं कहीं वह अब हकला उठता है। वाक्योंकी स्वच्छंदता और प्रवाहमें जैसे कुछ धीमापन आ गया है। शब्दोंमें सूक्ष्मता और निर्बलता आ गई है। शब्दोंके पीछे संकल्प-शक्ति मानो धीमी होती जा रही है,—मनकी शंका गहरी उतरती और फैलती जाती है। मैंने कहा—कहो लालचंद, अच्छे तो हो ?

उसने नमित मुस्कानके साथ कहा—आपकी कृपासे मैं प्रसन्न हूँ।

मैंने मालूम किया कि पिछले दिनों अपनी जवाहरातकी दूकानपर जाना

उसने बहुत कम कर दिया है। अपने मतके मंतव्योंमें पिछले दिनों उसने धार्मिक श्रद्धा प्राप्त की है। व्रत-उपवास करता है, दर्शन-पूजा करता है, और यति-मुनियोंकी संगति-सेवा करता है। अपने धर्मके शास्त्र बाँचना उसने शुरू किया है। वह अपनेको दुनियादारीसे खींचकर जैसे संक्षिप्त बनाना चाह रहा है।

मैंने पूछा—कहो भाई, तुम्हारे क्लबके और सब लोग कुशल-पूर्वक तो हैं ?

उसने कहा—जहाँतक मुझे ज्ञात है, सब आनंद-पूर्वक हैं।

मैंने पूछा—क्यों, क्या आजकल उन लोगोंसे मिलना नहीं होता ?

उसने कहा—उस क्लबसे मेरा अब सम्बन्ध नहीं रहा।

मैंने आश्चर्य प्रकट किया, और जानना चाहा कि ऐसी क्या बात हुई है।

मालूम हुआ, बात कोई विशेष नहीं हुई है। करोड़पतिका पुत्र है, इसीलिए तो वह क्लबका सदस्य था। निर्धनका पुत्र होनेपर तो वह नियमपूर्वक उस क्लबका सदस्य भी न हो सकता। इसलिए उसने वह क्लब छोड़ दिया है।

मैंने देखा लालचंद पहलेसे कुछ पीला हो गया है। उसने मुझसे क्षमा माँगी कि इच्छा करके भी वह मुझसे मिलनेका अपना सौभाग्य न बना सका। उसने कहा, वह बड़ी उलझनमें है, और अवश्य जल्दी ही मुझसे मिलना चाहता है।

इसके बाद जब कभी मैंने उसे देखा, देखा कि वह उसी ओर बढ़ रहा है। वह सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर और क्षीणसे क्षीणतर होता जाता है। उसके चेहरेपर विमलताके साथ चिंताकी छाप बढ़ती जाती है। चेहरा नुकीला होता जाता है, वाणीमें अधिकाधिक संकोच आता जाता है। बात मुँहसे मुश्किलसे निकलती है। निकलती है, तब मानो क्षमा-याचना करती हुई। सङ्कल्प-शून्य और संदिग्ध-सी बनी ध्वनि मानो कुहरेकी भाँति उसके शब्दोंको डसे रहती है।

मुझे मालूम हुआ, चार भाई उसके और हैं। वे सब हृष्ट-पुष्ट हैं, दुबला-पतला वही है। खद्दर भी घर-भरमें वही पहनता है। पढ़ा-लिखा सब भाइयोंमें वही ज़्यादा है, बी० ए० पास है, और बुढ़िया माका वही सबसे प्यारा है।

इन पार्टियोंमें ही मुझे उसके और भाई भी मिले। सबसे बड़े भाई अति सुंदर, स्वस्थ पुरुष थे। चेहरा सुर्ख खिला रहता था। उनकी बातमें जोर होता था और धमक। कुछ अजब रौब उनके व्यवहारमें था। अँगरेज़ी भाषासे उन्हें साधारण परिचय था। किंतु ऊँची-से-ऊँची सभा-समाजमें वह विशिष्ट और मान्य पुरुषकी भाँति गौरवशीलताके साथ व्यवहार करते थे। उनकी हँसी

निस्संकोच होती थी। उनका बदन दोहरा था। बेफ़िक्री और विलास मानो उनके शरीरसे विकीर्ण हो रहा था। उनकी अवस्था पैंतालिसके लगभग थी, पर वह पैंतीसके-से दिखाई देते थे। पेरिसमें पाँच सौ रुपया खर्च कर हवाई जहाज़से उनके लिए पानोंकी एक ढोली भेजी गई थी,—पानके वह ऐसे शौक़ीन थे। न्यूयार्कमें तो पान पानेमें और भी ज्यादा खर्च किया था। उनसे मिलकर व्यक्तिका सुखी न होना असंभव था। कुलीनता उनके परिच्छदसे और शालीनता उनके तमाम व्यक्तित्वसे मानो फूटती रहती थी। अत्यंत अनुग्रह-पूर्ण प्रेम-भावसे वह सबसे मिलते थे। लालचंदने मेरा उनसे परिचय कराया। उनका नाम मानिकचंद था।

लालचंदकी अनुपस्थितिमें उन्होंने मुझसे कहा—स्वामीजी, इस लालचंदको समझाइए न। काम-धंधा छोड़कर जाने किस फेरमें रहता है!

मैंने कहा—आप लोगोंके कहने-सुननेका कुछ परिणाम नहीं होता है क्या? यों तो लालचंद बहुत समझदार है।

मानिकचंदके ऊपरके ओठमें तनिक वक्र पड़ा। उन्होंने कहा—समझ ही तो उसे ख़राब कर रही है। अपने अंदर न समाय वह समझ बिगाड़ ही करती है। आप उससे कहिए, अगर वह चाहे तो उसे अलग दूकान करा दी जाय। घरमें बीबी है, बाल-बच्चे हैं। अब समझ न आयगी तो आगे क्या होगा?

मैंने कहा—ठीक तो है। मैं उससे कहूँगा कि भाई, समझदार होकर समझदारीका रास्ता क्यों छोड़ते हो?

मानिकचंदने कहा—जाने यह कैसा लड़का है। हम नहीं चाहते कि वह दूकानमें ही लगे। तबियत हो तो दुनियाकी सैर करे। कमी तो उसके लिए है नहीं। लेकिन यह वैरागीपना, स्वामीजी, बड़ी बुरी बात है। एक आप हैं, अकेले हैं, पालने-पोसनेको कोई साथ बँधा नहीं है, इसलिए आप स्वामी हों तो हो भी सकते हैं। स्व-पर-उपकार ही अब आपके लिए काम है। लेकिन लालचंदकी ऐसी उमर भी नहीं है, हालत भी नहीं है।

मैं मानिकचंदसे मिलकर खुश हुआ।

और भाई भी मानिकचंदकी ही राहपर थे, और खुश थे। उन्हें अपने साथ कोई शिकायत नहीं थी। उन्हें अपनेमें कुछ ग़लत नहीं दिखाई देता था। मज़ेमें रहते थे। चिंता-विचारका अधिक परिग्रह नहीं रखते थे। वे लोग सब समाजमें मान्य, कर्मशील, तत्पर आदमी थे। अधिकसे अधिक यही

तो कहा जा सकता था कि वे सदाचारी नहीं हैं, किंतु उपपत्नियाँ हैं, अथवा प्रेमिकाएँ हैं, या वेश्यागमनके संबंधमें दृढ़प्रतिज्ञ नहीं हैं, तो इससे उनके जीवनमें क्या अक्षमता आती थी ? वे सबके सब आत्मतुष्ट, स्वस्थ, प्रसन्न, मान्य, मिलनसार और मधुर-भाषी थे।

लालचंदने सबसे मुझे मिलाया। मैं मिलकर खुश हुआ।

* * *

इसके बाद एक दिन वह मेरे स्थानपर आया। उस समय किसी बड़ी दुविधामें मालूम होता था। वह मेरे साथ पुण्य और पापकी चर्चा चलाने आया था। वह जानना चाहता था कि क्या कृत्य पुण्य है, और क्या पाप। क्या वह जो बातें कर रहा है उससे सूक्ष्म जीवोंकी हिंसा नहीं होती ? क्या हिंसा पाप नहीं है ? वह इस संबंधमें भी अविश्वस्त मालूम होता था कि यहाँ बैठा जो मुझसे बात कर रहा है वह पुण्य ही है पाप नहीं।

मुझे ज्ञात हुआ कि इधर वह प्रतिदिन तीन तीन घंटे मंदिरमें बैठता है। वह अत्यंत सतर्क रहता है कि अशुभ भाव उसके मनमें न आने पावें। वह पहलेसे और भी पीला हो गया था, और अधिक हकलाकर बोलता था।

मैंने कहा—तुम्हें धर्मके बारेमें इतने अणुवीक्षणकी आवश्यकता नहीं। धार्मिक जीवन दिव्य जीवन है। दिव्य जीवन अल्पप्राण जीवन नहीं है। महाप्राणता वास्तविक तत्त्व है। पाप-पुण्यके विवेककी राहसे मनुष्य अपना पोषण करता है। उस राहके बीचमें होनेका प्रयोजन यह है कि वह इतना पुष्ट बने कि भयकी उसे आवश्यकता न रहे। इसलिए कृत्यके अंदर पाप-पुण्य नहीं है, वरन् मनुष्यके भीतरकी भीरुता और अनधिकारिताके कारण उसके लिए कुछ पुण्य है और कुछ विगर्हणीय पाप।

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं लालचंदकी दृष्टिसे निषिद्ध क्षेत्रपर जा रहा हूँ। मैंने कहा—मेरे बच्चे, पाप-पुण्यकी उलझनको और मत उलझाओ। मनुष्यको इष्ट तो वह अवस्था है जहाँसे पाप-पुण्य नीचे ही रह जाते हैं। लेकिन ज़ीनेको नीचे छोड़नेके लिए चढ़ना भी ज़ीनेसे ही होगा। मैं तुमसे पूछता हूँ, क्या तुम मेरी बात मानोगे ?

लालचंदका तनिक भी समाधान होता प्रतीत न होता था। किन्तु मुझे ज्ञात हुआ कि वह मुझसे कुछ-न-कुछकी तो अपेक्षा रखता है। मैंने कहा—

लालचंद, मैं तो यह देखता हूँ कि तुम अपने भाइयोंके साथ उसी दूकानपर नहीं बैठ सकते तो अलग व्यवसाय चलाओ। कुछ व्यवसाय तुम्हें अपने कंधेपर उठाना ही चाहिए। आजीविकाके लिए जो मनुष्यको कोई धंधा करना जरूरी हो गया है, यह बात विधाताकी ओरसे निरी प्रयोजन-हीन मत समझो। यों धंधा चलाकर आदमीको पता चलता है कि दुनियामें जीवन अकेला नहीं है, अकेलेका नहीं है, अकेले वह नहीं चलेगा। लेकिन आदमी हैं जो विना धंधेके भी रहते हैं। उनमेंसे मैं भी तो एक हूँ। दूसरोंकी दी हुई भीख हमारा भोजन है। वही हमारी वृत्ति है। लेकिन भीखके भोजन पानेकी वृत्तिके अधिकार तक आदमी जीवनमें कुछ ज़ीने पार करके ही पहुँचता है। आरंभमें तो स्वभावको पुष्ट करना होता है। अपनेको स्वस्थ और आत्म-प्रतिष्ठित करना होता है। विविध उपादानोंसे लड़कर अपने तईं आहार जुटाना और जीवित रहना तथा रखना होता है। जब व्यक्ति आत्मस्थ हुआ, तब जीवनके समस्त संगृहीत उपादान स्वयमेव परिग्रह होने लगते हैं। और, तब वह अपनेको जगत्की सदभिलाषापर छोड़ देता है। स्वयं भी अपने लिए नहीं रहता,—विश्वके लिए रहता है। तुम पाप-पुण्यकी बात करते हो, अतः मैं तुमसे कहता हूँ कि इस समय कोई धंधा लेकर बैठना तुम्हारा परम धर्म है। कर्मसे विमुख होकर मंदिरमें उपासना करनेमें अपनेको भूलनेका यत्न करना अधर्म है। स्वाधीन भावसे दूकान लेकर व्यवसाय करो, और उसीको उपासना बना लो। व्यवसायमें भी तुम प्रमाणिकता न तजो, यही सब कुछ है।

मैंने इसी भाँति उससे कुछ और भी बातें कीं। मैंने देखा, कुछ उसमें अटक है। जो कुछ भीतर अटका है, उसे वह चाहकर भी बाहर नहीं ला पाता। 'स्त्री' शब्द भूलकर भी उसकी बातोंके आसपास मैं नहीं पाता। मैं देखता हूँ, वह जवान है। तीस-बत्तीस वर्षसे अधिक उसकी उम्र कभी नहीं हो सकती। उसकी चर्चामें स्त्री-तत्त्वकी गंध तकके अभावके प्रति ही मुझे शंका होती है। मैं अपेक्षा रखता हूँ कि वह कभी घर-परिवार आदिकी भी बातें मुझसे करे। मेरी समझमें नहीं आता स्त्री-प्रेमकी बातें उससे क्यों एकदम दूर होनी चाहिए।

मैंने कहा—लालचंद, तुम मुझे अपना समझ लो। जब जो चाहे मुझसे कह सकते हो।

मैंने देखा, अब भी उसमें चर्चा चलानेकी चाह है कि जीवनका मोक्ष क्या है।

जीवनका मोक्ष क्या है, यह मैं बेचारा भी क्या जानता हूँ। लेकिन लालचंदको सामने लेकर उस मोक्षसे कहीं अधिक मैं यह जानना चाहता हूँ कि लालचंद इस मोक्ष-चिंतनके पीछे किस ठोकरसे उलटकर पड़ा है।

लेकिन मुझे कुछ भी हाथ नहीं आया, और वह विविध विषयोंपर आध्यात्मिक चर्चा चलाकर, कुछ संतुष्ट और कुछ विषण्ण, लौटकर चला गया।

* * *

उसके बाद एक रोज़ अँगरेज़ी बाज़ारके बीचसे पैदल जा रहा था कि क्या देखता हूँ दौड़कर लालचंदने मुझे पकड़ लिया है, और कह रहा है—" स्वामीजी, आइए, पधारिए। "

इस समय लालचंदका मुख वैसा कर्तव्य-शून्य नहीं है, और उसपर कुछ प्रफुल्लता भी दिखाई देती है। मैंने कहा—कहो भाई, कहाँ ले चलोगे ?

उसने पास ही एक बहुत बड़ी और शानदार दूकानकी तरफ़ दिखाकर बताया कि वह ईस्ट इंपोरियम उसीकी निजकी दूकान है। मुझे प्रसन्नता हुई। लेकिन मेरे मनमें ज़रा खटका भी हुआ कि इस आदमीमें यह कारबारीपनका लक्षण नहीं है कि अबतक मुझ-जैसे स्वामी आदमीकी उसे चिंता है। वह मुझे दूकानमें ले गया और अभ्यर्थना-पूर्वक अपने इस उद्यमके हालचाल सुनाने लगा। उस समय भी मैंने उसमें वह पुरानी प्रकृति जाग्रत देखी। देखा, पापसे भय और पुण्यकी चिंता उसमें लगी ही रहती है, और वह कुछ आध्यात्मिक विषयोंपर वार्तालाप करनेकी आवश्यकतामें उलझा ही है।

अगले दिन मानिकचंद मेरे स्थानपर मुझसे मिलने आये और मुझे धन्यवाद देने लगे कि लालचंद अलग दूकान लेकर बैठ गया है। उन्होंने बताया कि एक हज़ार रुपए माहवारका भी नुकसान हो, तो भी हर्ज नहीं है, लेकिन लड़का तो सँभलनेपर आया है। उन्होंने बताया कि सचमुच लालचंद खूब परिश्रम-पूर्वक काम करता है, व्यवसायके मामलेमें खूब चौकस है। और यह, कि उन्हें बिलकुल उम्मीद न थी कि वह अपनी ज़िम्मेदारी इतनी महसूस करेगा।...

दो साल तक, मैं समझता हूँ, मुझे यदा-कदा ईस्ट इंपोरियमका वह बड़ा बोर्ड दिखाई देता रहा। उसके बाद मुझे नहीं मालूम क्या हुआ। दूकान वही जवाहरात और अजायबातकी वहाँ रही, पर बोर्ड वह न था। मुझे लालचंद

भी नहीं मिला, न उसके संबंधकी और कोई सूचना ही मिली। मैं बीच-बीचमें लालचंदके प्रति अपने भीतर सस्नेह चिंताका अनुभव करता था, और मुझे अचरज भी था कि दो-तीन वर्ष हो गये हैं, लालचंदके विषयमें मुझे कोई सूचना क्यों नहीं मिली। आज अभी दो घंटे पहले रतनचंद (लालचंदका भाई) मेरे पास होकर गया है। उसने मुझे बताया कि लालचंद पागल हो गया है। वह घरके एक कमरेमें ख़ाली तख़्तपर रस्सीसे बँधा हुआ पड़ा है। वह चीखता-चिल्लाता है और उसकी बुरी हालत है। नाखूनों और दाँतोंसे अपनेको काट-काट लेता है। रतनचंदने चाहा कि मैं उसके साथ तुरंत घर चलूँ। मैंने कह दिया—मैं तीन-चार घंटे बाद आऊँगा। क्योंकि मैं यों ही नहीं जाना चाहता, कुछ सोचकर जाना चाहता हूँ।

क्या आप लोगोंको लालचंदके साथ इतना वास्ता अनुभव होता है कि मुझे लाचार करें कि लौट आनेपर मैं बताऊँ कि मैंने क्या पाया ?

व्यर्थ प्रयत्न

चिन्तामणिकी अवस्था अधिक नहीं है। देहसे दुबला है, मस्तक बड़ा, आँखें छोटीं और तीव्र। चेहरा प्रभावोत्पादक। लेखक है, और प्रोफेसर। कम लिखता है, पर लिखता है तो गहन। साथी अध्यापकोंमें अच्छी ख्याति है। बहुत पढ़ता है। वेतन मिलता है पाँच सौ, बचता एक पैसा नहीं। यह उस वक्त जब कि वह अकेला है, शादी नहीं की। कोई व्यसन उसे नहीं है। पिछले शनिवारकी संध्याको पहली सिगरेट उसने पी। वह उसे बुरी मालूम हुई, इसीलिए हठपूर्वक उसे उसने पूरा पीकर छोड़ा। यह उसने संगी साथियोंके बीचमें नहीं किया, एकान्तमें सिर्फ अपने सामने किया। अपने संकल्पमें वह संगी-साथियोंका साथ नहीं चाहता। 'मैं अकेला चलूँगा, अकेला। मैं मैं हूँ।' अब तक कभी कोई उसे सिगरेट न पिला सका। जब सबने देख लिया कि वह अविजेय है, तब उसने सोचा कि अब मैं खुद अपनेपर विजय पाऊँगा। इसलिए उसने एकान्त कमरेमें स्पर्द्धापूर्वक सिगरेट जला कर पी। उसका मन मिचला आया, उबकी आने लगी, लेकिन शहीदकी भाँति वह सब सह गया। उसने सोचा कि यह सब मनकी कमजोरी है। मैं अपनेपर विजय पाऊँगा।

स्त्रियाँ कई उसके जीवनमें आई हैं, लेकिन सब राहमें टूट गई हैं। और चिन्तामणि उनके क्षत-विक्षत हृदयोंके बीचमेंसे, दाएँ बाएँ देखता हुआ, बराबर अपनी राह चलता, अब बत्तीसवाँ वर्ष पार कर रहा है। कभी सूना-सा लगता है,—तो लगो। कुछ याद उठती है,—तो उठो। यह तो व्यक्तित्वकी त्रुटि है। तभी तो चाहिए साधना। और वह भीतरका और बाहरका सब सूनापन पी जाना चाहता है। वह नहीं जाता सिनेमा, नहीं देखता मेले-तमाशे, जलसे-जुलूस; और नहीं शामिल होता हाहा-हीहीमें। वह खाली वक्तको खाली रखता है और उस वक्तके खालीपनसे अपनी जान बचानेके लिए किसी भी ढकोसलेमें, किसी भी ओटमें, जा छिपनेमें विश्वास नहीं करता। वह वक्तको बितायेगा नहीं, उसे झेलेगा। वह उस समयकी शून्यतामें आँख गड़ा कर देखता

है। देखता है कि, जो हो, दीखे। अपने मनकी ही आकांक्षाओंकी तस्वीरोंको उस वर्णहीन समयके पटपर देख कर तो मान जानेवाला चिन्तामणि है नहीं। वह वही देखना चाहता है, जो है। पर जो है, वह शून्य है। शून्य अपने पेटमें भी शून्य ही है। इसलिए दीखता यह है कि कुछ नहीं। पर नहीं कुछ दीखता तो न दीखे, चिन्तामणि हारनेवाला नहीं है, भागनेवाला नहीं है। क्या सब कुछ एक कोरा 'नहीं' है,—यह वह मान ले?

आँखें उसकी बन्द नहीं हैं,—वह जगत्‌पर इतनी खुली हैं जितनी खुल सकती हैं। देखता है—ये लड़कियाँ हैं, ऐसी हँसती हैं जैसे फुहार। आज नीले रँगकी साड़ी है तो कल लाल रँगकी। जैसे फूलोंसे भरा बगीचा हो, वैसे उनसे भरा संसार है। दीखता है—यह चाँदनी चौक है। यहाँ सब कुछ अपनेको दिखा रहा है। यह विलायती बाजार है, जहाँ क्या नहीं है जो लुभावना है। सब देखता है, लेकिन...अँह...उसका मन उनमें खिंचाये नहीं खिंचता।

देखता है—सड़कके किनारे पड़े ये कोढ़ी हैं, ये भिखारी हैं। अस्पतालमेंसे यह चीख आ रही है। ये मरघटपर मुर्दा लिये जा रहे हैं, जो घड़ीभर पहले जिन्दा था। यह शोर है, यह हड़ताल है, यह जलूस है, यह सभा है। वह सब देखता है, पर उसका मन इनमेंसे किसीसे नहीं भरता।

वह सूरज निकल रहा है। आसमान कैसे रँगसे खिल आया है। किरणोंकी कैसी लहरें चहुँ ओर व्याप रही हैं। वह देखो सूरज लाल लाल गोल गोल उग आया।...यह सन्ध्या आ गई। कैसी मीठी अँधियारी है। बादल कैसे सलोने, रंग-बिरंगे और प्यारे लगते हैं।...यह बादल कड़का। घन-घोर घटा घिर आई। वह बिजली चमक गई। अब मेह पड़ेगा। पक्षी बसेरेकी टोहमें भागे जा रहे हैं।...वह सब देखता है और प्रसन्न हो जाता है।

गाय रँभा रही है: बछड़ा कहाँ है, कहाँ है? रस्सीसे छूट कर बछड़ा वह कूदता आया और भरे थनमें मुँह मारने लगा। पेड़ खड़े हैं जो हवाकी थपकी लगी नहीं कि झूम उठते हैं। सालके साल खट्टे-मीठे फल देते हैं।...घास है जो नन्हीं नन्हीं चारों ओर धरतीपर उग छाई है। वह चलते पैरोंकी चोटके नीचे पिच जाती है और फिर बेचारी मुँह उठाकर धूपकी ओर देखने लगती है। हवा चौबीसों घण्टे चलती रहती है और चौबीसों घण्टे हम उसे नथनोंसे भीतर लेकर उन्हीं नथनों बाहर कर देते हैं। और वह बहती रहती है, बहती रहती है। पानी ऊपरसे बरसता है तो धरतीमेंसे भी फूटता है। नदीमें और नलमें, बादलमें और

बासनमें, समान भावसे भरा हुआ पानी पानी ही बना रहता है।...चिन्तामणि सब देखता है। जिज्ञासासे, विस्मयसे, प्रश्नसे भरा हुआ सब देखता है।

वह कबूतरकी जोड़ी बैठी क्या कर रही है? क्या कर रही है? बड़ी मगन है! गुटुर-गूँ, गुटुर-गूँ वह क्या कर रही है?...

चिन्तामणि आदरके साथ सब देखता है। वह सब चाहता है, इसलिए वह कुछ नहीं चाहता। उसका कमरा ज्ञानकी किताबोंसे भरा पड़ा है। नईसे नई और पुरानीसे पुरानी किताबें उसकी अपनी हैं। सब हैं, पर कुछ नहीं है। उसका अपना आपा कहाँ है? और इन सबका आपा कहाँ है?...

और यह उसका प्रश्न,—चाहे जितना सोचे, जितना पढ़े,—और भी तीव्रतासे उसके भीतर ऐसा आवर्त देता हुआ घुमड़ता रहता है, जैसे व्यथाकी घूँट।

उत्तर कहाँ है, कहाँ है? कहींसे भी तो वह उसके पास चलके नहीं आता है। जो है प्रश्न है। 'यह' क्या है?—नहीं मालूम। 'वह' क्या है?—नहीं मालूम। पर इन सारी किताबोंकी मददसे और अपने मनकी मददसे इतना अवश्य मालूम है कि 'यह' 'यह' नहीं है, 'वह' 'वह' नहीं है। तब 'यह' और 'वह' क्या है,—कैसे मालूम हो? यही कैसे मालूम हो कि ऐसे मालूम हो?

चिन्तामणि दुबला होता जाता है। स्त्रियोंसे मिठाससे बोलता है। धीमे और मुस्कराकर बोलता है। वह जानता है बच्चों, मूर्खों और स्त्रियोंसे ऐसे ही बोलना चाहिए। विद्वानोंसे वह बोलता ही नहीं। बोलता है तो और भी मुस्कराकर बोलता है, क्योंकि जानता है कि वे सबसे भारी मूर्ख होते हैं।

पर हाय, ये सब मूर्ख इसीसे उसपर और मुग्ध होते हैं। तब वह उनके लिए रोना चाहता है। उसको बड़ा क्रोध आता है। पर कौन है जो निरीह नहीं है और जिसपर वह क्रोधतक कर सके?

कल शाम वह क्यों ह्विस्कीकी बोतल साथ लेता आया,—क्या कोई जानता है? शायद कोई नहीं जानता। और वह क्या जानता है? क्या वह अपने ऊपर विजय पाना चाहता है? वह सब बातपर विस्मित है, लज्जित है।

शराबसे उसे अत्यन्त घृणा है। आदमीने जितने धोखे खड़े किये उनमें शायद सबसे बड़ा यह है। एक इससे भी बड़ा धोखा है, वह है परमात्मा। लेकिन वह तो इतना बड़ा है कि उसमें पड़कर आदमीको यह सूझ ही नहीं रहती कि यह धोखा है। शराबी नशेमें भी जानता है कि यह वह खुद नहीं है, जो है शराब है,—धोखा है।

आज पिछले आठ वर्षोंसे चिन्तामणि अपने प्राण-पणसे खोजता रहा है कि वह

मिले जिसे कहते हैं 'परमात्मा'...वह एक और अकेला झूठ, जिसके आगे सब झूठ सिर झुकाते हैं; वह धोखा जिसमें हमारी सब सचाई बहकर ऐसी खो जाती है जैसे समुद्रमें नदियाँ; वह शून्यता जिसमें हमारा सब वास्तव समाया हुआ है। —वह परमात्मा मिले जिसमें सब कुछ एक साथ मिलता है।—वह नशा जो कभी उतरे ही नहीं। उसे चाहिए वही सनातन, शाश्वत, अवास्तव सत्य जिसके आशीर्वादसे नितप्रति रंग बदलनेवाला सब झूठ सरस हो जाता है। वह एक जिसका सबको आसरा है।

पर सब छान छान मारा वह तो कहीं मिला नहीं। कहीं नहीं मिला, कहीं नहीं मिला। क्या वह मिलेगा भी?

नहीं ही मिला, तो चिन्तामणि आज यह ह्विस्कीकी बोतल ले आया है। इसकी मददसे पाँच मिनट, दस मिनट, घंटा आध घंटा तो जरूर ही कुछ न पानेपर भी सब कुछ पा रहा जैसा अपनेको समझेगा। अरे, कुछ सुरूर तो मिलेगा। खुदी भी तो बेखुदीमें ही है। वह खुदी भी क्या कुछ न मिलेगी?

बोतल आलमारीमें रखकर वह अपने अकेले कमरेमें पलंगपर आकर लेट गया। वह छतकी तरफ देखता हुआ सोचता रहा, सोचता रहा। फिर ईशोपनिषद् लाकर लेटे लेटे उसे पढ़ने लगा। एक मंत्र पढ़ा और उसमें डूब गया। किताब बन्द करके एक तरफ रख दी और दोनों हाथोंसे आँख मींचकर करवट लेकर पड़ रहा।

रात-भर क्या उसे नींद आ सकी? लेकिन वह जागता भी नहीं रहा। तमाम रात उसका सिर चकराता रहा। बीचमें कई बार उठकर बरामदेसे बाहर आकर ठण्डी हवामें वह टहल टहल गया। पर दिमागमें क्या धमाधम चल रहा था कि घड़ी-भरको चुप न हुआ।

आखिर चार बजेका घंटा उसने साफ सुना। उसने अपनी घड़ी देखी। सेकिन्ड सेकिन्ड सही थी।

वह शून्य भावसे उस चारको चारों ओर देखने लगा—

क्या वह पागल हो जायगा? चार क्या है? रोशनी! रोशनी क्यों है? क्या है? यह क्या है? वह क्या है? मैं क्या हूँ! सब क्या है! सब 'कुछ नहीं' है? तो 'कुछ नहीं' क्या है? और वह कहाँ है जो सब कहीं है? कहाँ है वह? अरे, कहाँ है वह?...ओह!...

और उसने आलमारीमेंसे बोतल निकाली और दो पेग पी गया!

इक्केमें

हठात् विदा ली, और झपटकर इक्केपर सवार हो मैं चल पड़ा।

चलते इक्केमें अकेला बैठा सोचने लगा—तुम भी आदमी हो! वक्तपर कुछ कर सकते हो नहीं, फिर सोचते हो, क्यों नहीं कर सके? बैठे सोचा करो... कुछ नहीं, तुम निकम्मे हो। हाँ तो, सीधे मुँह उठाकर चलते चले आये, यह नहीं कि गुरुजनोंके चरन छू चलो...

और इक्का चल रहा था। और इक्केवान अपने मरियल घोड़ेको टिक टिक करता चला रहा था। और घोड़ा सेकिंड दो सेकिंड इक्केके बोझको जरा जल्दी खींचता, फिर अपनी रफ्तारपर आ जाता। और बनारसकी सड़क और गली इसी भाँति पार होती जा रही थी।

सोचा—यह क्या बात है जी, कि कहीं जाओ और फिर वहाँसे आ जाओ। पहले तो कहीं जाओ ही क्यों, और अगर चल ही पड़े और पहुँच ही गये, तो फिर वहाँसे आ जाना क्यों जरूरी हो जाना चाहिए? नहीं नहीं, सब गड़बड़ है। यह सब तमाशा है...

और मैंने गिरनेसे बचनेके लिए एक दम इक्केका डंडा पकड़ लिया, कहा—ठीकसे क्यों नहीं चलाता रे, इक्का?

बोला—बाबू, चुंगीकी मिन्सपल्टीमें लकचर होत हैं, और सड़कनमें गड्हे पड़े जात हैं।

मैंने कहा—गाड़ीमें वक्त थोड़ा है। जरा इक्का बढ़ाये चल।

उसने कहा—होय, टिक टिक...

और घोड़ेके खड़े दाएँ कानपर चाबुकका तस्मा भी जोरसे बिठा दिया।

घोड़ा अगले पैरोंपर जोर देकर बढ़ा, दौड़ा, और फिर वैसा ही मद्धिम हो गया।

और पास रक्खे पुलिंदेपर कोहनी टेक, और ठोड़ी हथेली पर रखकर देखने लगा—यह भारत-धर्म-महामंडल है, और उसके चारों ओर खेत भी हैं और

बगीचे भी हैं। और यह लाल तीन मंज़िलका मकान कैसे सुन्दर डिज़ाइनपर बना है। और ये औरतें रोज सामनेके इस तीन मंज़िलके सुन्दर लाल मकानको देखती हैं, हँस-हँसकर अपनी टोकरियाँ बुनती हैं, गालियाँ बकती हैं, अपने अपने मर्दोंको लेकर अपने बन्द घरोंके भीतर फ़ूस-गूदड़को ओढ़ना-बिछौना बनाकर सोती हैं, और रात काट देती हैं। और फिर दिनमें आकर इस लाल विशाल महलकी गुर्राती आँखोंके सामने हँसती और चुहल करती हुई अपना गोबर पाथती और टोकरी बुनती हैं। और हम कहते हैं, प्रेम। और प्रेमके साथ कहते हैं, गुलाब, बुलबुल, शराब, मख़मलके तकिये, बड़े आइने और यह और वह। और कहते हैं विरह, वियोग, विछोह, कसक, टीस, आह, आँसू, आग आदि। और कहते हैं, सौन्दर्य, और Aesthetics। और कहते हैं, आर्ट।....और ये औरतें मर्दोंको लेकर अनगिनत बच्चे जनती हैं, और गोबर पाथती हैं, और टोकरी बुनती हैं, और हँसती हैं और झगड़ पड़नेको भूखी रहती हैं, और गालियोंसे भरी रहती हैं।...और भारत-धर्म-महामंडलका कार्यक्षेत्र विशाल है, और कार्यालय भी बारौनक है।...

मैंने कहा—क्यों रे, यह इक्का और यह घोड़ा! तभी तैंने चिल्ला चिल्ला कर मुझे अपने इक्केपर बुलाकर बिठाया। गाड़ी न मिली तो तुझे धेला न मिलेगा।

इक्केवालेने चाबुक सराँया और एक कस कर दिया, और एक अति घनिष्ठ गाली दी। घोड़ेने दुलत्ती झाड़ी और फिर दौड़ पड़ा। तब इक्केवालेने कहा—वाह मेरे बेटे! और अपने बेटेके पुट्ठेपर प्यारके चार थपके दिये।

मैंने देखा—चाबुककी चोटपर घोड़ा एक बार खीझमें दुलत्ती झाड़ता है। तब क्या मैंने यह भी नहीं देखा कि प्यारकी थपकियोंपर एक बार ही उसकी देहमें हर्षकी सिहरन दौड़ जाती है, खड़े कान खड़े रोंगटोंकी तरह काँपते-से हैं और भागकी चालमें उल्लास आ जाता है! उसने क्या नहीं सुन लिया है—वाह मेरे बेटे!—और वह उछलता हुआ पीछे इक्केके बोझको खींचता खुशीसे भागता चला जा रहा है।

सोचा—चाबुककी चोट क्या झूठ है! नहीं तो फिर क्या प्यारकी थपकियाँ झूठ हैं! एक ही इक्केवाला अपने घोड़ेको कोड़ा मारता है, और बेटा कहकर प्यार करता है। इसमें कौन बात झूठ है, और कौन सच है! किस बातमें वह इक्केवाला अधिक प्रकट, अधिक निकटतासे घनिष्ठ और प्रकाशित है?

मैंने इक्केवालेको अपने स्थानसे देखा—चेहरेपै रेखाएँ छाई थीं जिनमें जानना असंभव था कौन क्या प्रकट करती है और कौन क्या। माथा कम था और भौंहें भारी-घनी होकर आँखोंपर छज्जे-सी छाई थीं। और ठोढ़ीकी नोक लटकती जा रही थी।

मैंने कहा—कबसे बनारस रहते हो ?

उसने कहा—बाबू, दस बरस हुई गए, तबहिंसे यह जिनावर हमरे पास है। कबहुँ इन्ने दगा नहीं दई, वफादार जिनावर है।

कहकर, घोड़ेको जो धीमा होता जा रहा था, गाली देकर घुमाकर एक कोड़ा जमाया—'अत्तेरे साले...'

मुझसे कहा—बाबू, पूरे दस साल हुई गए। और हम इहाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी रहत आ रहे हैं। परि, जबहूँसे जा इक्कामें परे हैं जेइ जिनावर है।

और मैं इक्केके बीचमें बैठा सड़क पार करता हुआ रेलके स्टेशनके निकट खिंचा हुआ जा रहा था।

...क्यों जी, य' क्या है ? अभी बनारस, और अभी टिकट लिया, रेलमें बैठे, और कल दिल्ली ! क्यों कल दिल्ली और आज बनारस ? क्यों रोज़ ही रोज़ एक ही अपने स्थानपर नहीं ? और क्यों नहीं पूरी तरह तृप्ति नहीं ?...पर, किस लिए एक जगह तृप्त रहा जाय ?...तृप्त ही क्यों रहा जाय ? क्यों न यहाँसे वहाँ भागते फिरे जायँ, और एक दिन आये कि जहाँ हो वहीं ठंडे होकर ढेर हो जायँ ! आखिर यही तो होना है—फिर क्या नहीं, और क्या हाँ।

और यह रेल भी तमाशा है। फक-फक करती हुई आकर खड़ी हो जाती है, और कहती है—आओ लोगो, यहाँसे वहाँ चलो। और पाँच-दस मिनट बेचारी चुपचाप प्रतीक्षामें खड़ी रहती है, और लोग जो आते हैं उन्हें अपने पेटमें लेकर फक-फक करती हुई फिर चल पड़ती है। और कुछ काम ही नहीं है इसे, यही करती रहती है। हर जगह जाकर यही कहती है—यहाँसे चलो वहाँ। और लोग इसी स्थानान्तरित होते रहनेको कहते हैं,—हम काम कर रहे हैं। इसीकी परिभाषा बनाकर कहते हैं,—हम व्यापार कर रहे हैं, व्यवसाय कर रहे हैं, प्रचार कर रहे हैं, आन्दोलन कर रहे हैं, उपकार कर रहे हैं, परिवर्त्तन कर रहे हैं,—हम काम कर रहे हैं।...

अबके जोरसे मेरा सिर पास रक्खे अपने बिस्तरके पुलिंदेमें लगा। खैर हुई

कि ट्रंकमें नहीं लगा। ध्यान आया, दुनिया ख़याली नहीं है, और यह बनारसका इक्का है और बनारसकी सड़क है; इसलिए, ख़याली जीव बनकर बैठूँगा इसमें, तो ख़ता खाऊँगा।

मैंने कहा—सँभालके क्यों नहीं चलाता रे, इक्का! और मैं, सँभल-सँभाल, चौकन्ना हो बैठा।

देखता हूँ कि सड़कको पार होनेकी जल्दी नहीं है। इक्केके नीचेसे गहरे चेचकके दाग-से गड्ढोंवाली यह बुढ़िया ख़ाला सड़क बड़ी धीमी धीमी चालसे खिसक रही है।

मैंने कहा—इक्का बढ़ाता है कि रेल निकालनेकी धुनमें है! रेल निकली कि फिर तू है, और मैं।

उसने घोड़ेकी पूँछके पास हाथ लगाकर कहा—होय, टिक-टिक...

मुझसे कहा—बाबू, कहाँ जाव?

मैंने ख़ुशीसे कहा—दिल्ली।

'धिल्ली!' और वह मुझे आँख फाड़कर देखने लगा, "बाबू, धिल्ली!" उसने समझा होगा, सोनेसे कम कीमती धातु तो क्या दिल्लीकी सड़कोंमें लगी होगी, और पानीकी जगह लोग इत्र पीते होंगे। दिल्लीके अचरजसे उबरनेपर पूछा—बाबू, तुम्हरे इहाँ कहा रोजिगार होत ऐ?

मैंने कहा—चलो चलो, इक्का चलाओ।

इक्का चल ही रहा था, और चल पड़ा।

"बाबू, धिल्लीमें मोगलके बादशाह रेत हते। वोई धिल्ली! वआँ किल्ला ऐ?"

मैंने कहा—हाँ, वही दिल्ली। और वहाँ किला है। और वहाँ चाँदनी चौक है।

"चाँधनी चौक!"

"ख़ूब चौड़ी, पक्की, हमवार सड़क है। ट्रामें चलती हैं। बड़ी रौनक़ है। तुमने नहीं देखी?"

"बाबू, हमारे चौकसे बढ़िया ऐ?"

"अरे, दुनियामें एक है।"

"अच्छा!" और वह अपने घोड़ेकी तरफ़ देखकर बोला, "चल बेटे, शाबाश।"

इस अबोध प्राणीके भीतर दिल्लीके संबन्धमें महत्त्व जगाकर अनुमान हुआ कि मैंने अपना भी महत्त्व बढ़ा लिया है। जैसे सचमुच दिल्लीमें रहना मेरी अपनी

निजकी ऐसी विशिष्टता है कि उसके बलपर अनदिल्लीवालोंसे मैं अनायास ही बड़ा हो जाता हूँ।...छिः-छिः, मैं सोचता हूँ आदमी आदमी है कि जानवर है।

मैंने कहा—भई, हमको बताते चलो कि रास्तेमें कौन क्या है, कौन क्या? हम बनारसमें नये हैं। और बनारस जितना पुराना शहर है उतना दिल्ली क्या, कोई भी नहीं है।

उसने कहा—बाबू, बनारस...। आगे उसने वाक्यको पूरा न किया, और मैंने अनुभव किया कि बनारसको दिल्लीके आस-पास पहुँचा देखकर बनारसके सम्बन्धमें अधिक उल्लास उसमें शेष नहीं रहता, कुछ लज्जाका भाव ही आ उठता है। "बाबू, बनारस..." कहकर वह नीची निगाहसे अपने घोड़ेको देख उठा, और हाँकने लगा।

देखो जी, यह अहंकार भी क्या है! यह मुझको तुमसे, या तुमको मुझसे, बड़ा बना देकर ही समाप्त नहीं होता। यह चीज़ोंको, शहरोंको, नामोंको, शब्दोंको भी एक दूसरेके सामने ऊँचा चढ़ाने और नीचा गिरानेकी चेष्टा करता है। मैं मैं हूँ, इस लिए तुमसे बड़ा हूँ। इसलिए मेरा कुत्ता भी तुमसे बड़ा है। इस लिए मेरी गाली भी तुमसे बड़ी है।...इस अहंकारकी हद नहीं।...बुरी बला है यह, एक आफत।

पास ही एक बढ़िया-सी कोठी दिखाई दी, और सचेत होकर इक्केवालेने कहा—बाबू, ये इंडियन परेस है।

मैंने मनमें दोहराया—इंडियन प्रेस!

"बाबू, छापेखाना है। कितावें छपत हैं।"

मुझे यह धृष्टता उसकी अच्छी नहीं लगी कि मुझीको समझाने बैठता है, प्रेस क्या चीज़ होती है। मैंने कहा—इक्केको बढ़ाओ जल्दीसे, देर हो रही है।

इक्का बढ़ा और मैंने सोचा—इंडियन प्रेस! खूब तो चीज़ है। वही न जहाँ ज्ञान धड़ाधड़ कलपर छपता है, जिल्दोंमें बँधता है और जहाँ फिर उसके खूब दाम उठा लिये जाते हैं! नया-पुराना, हल्का-भारी, स्कूली-अस्कूली, शास्त्रीय-अशास्त्रीय,—सब प्रकारका ज्ञान पक्की मज़बूत जिल्दोंमें सिलकर, बँधकर, एजेंसियोंमें पहुँचता है और परीक्षाकी मार्फत डिग्रियोंके और ज्ञानके भूखे जनोंको ऐसे सुभीतेसे मिल जाता है जैसे घाववालोंको हर अस्पतालसे मरहमका फाया। इस प्रकार ज्ञानका वितरण होता है, पुण्यका अर्जन होता है और धनका संचय

होता है। और इस अर्जन-संचयके मार्गमें, ज्ञान नामक पदार्थके व्यवसाय-द्वारा कोटि कोटि संपादक लेखक आदि, उक्त पदार्थकी उत्पत्तिके श्रमीजन, सहज रूपसे पल जाते हैं। और वह कलें बिजलीके जोरसे ऐसी भूतकी तरह चलती हैं कि उनके पेट भरनेके लिए अपरिमित ज्ञानको उगते रहना ही चाहिए। कहीं न कहींसे मज़दूर लोग खोद खोद कर ज्ञान लायें, उगलें, उड़ेलें, कि जिससे कल चलती रहे, और उसमें लगा रुपया आमदनी देता रहे। और ज्ञान बढ़ रहा है, पत्रिकाएँ निकल रही हैं, लेख लिखे जा रहे हैं, पुस्तकें तैयार हो रही हैं, उपदेश दिये जा रहे हैं कि पुस्तकें पढ़ो और ज्ञानी बनो; क्योंकि, कलका भूत काम माँगता है और उस भूतका मालिक दाम माँगता है। यह उचित और आवश्यक है। क्योंकि उस मालिकको साढ़े चार लाखकी समुद्र-तटपरकी एक कोठी पसंद आ गई है।—इसलिए लिखो और पढ़ो।...मैं जानता हूँ, इंडियन प्रेस खूब चीज़ है।

" बाबू, उधर कीनका कालिज है। "

मैंने कहा—कीनका कालिज नहीं चाहिए, स्टेशन कितनी दूर है?

" नजीक ही है, बाबू! "

मन्दिर आये, खेत आये, कहीं बगीचे, फिर धर्मशालाएँ, मकान, घर,—एक एक कर आदमीके सब खेल, सब काम आने लगे। कहीं दो आदमी दीखते, कहीं तीन; कहीं दो स्त्रियाँ, कहीं तीन। लोग जा रहे हैं, काम कर रहे हैं, हँस रहे हैं,—कुछ हैं जो रो भी रहे हैं।...गोखले शिल्प-विद्यालयका बहुत बड़ा बोर्ड लगा है, और उसके अधिकारी अवश्य समझते होंगे, उन्होंने जो किया है, उसीमेंसे मनुष्यका और मनुष्य-जातिका उद्धार है।...और पानकी दुकानवालीसे एक अधिक चूना लगा पान लेकर जो आदमी उसे कोसता हुआ रस लेकर हँस रहा है, वह मान रहा है कि उसे और कुछ नहीं करना है। वह इस पानवालीके पानको और उसकी हँसीको, और उसे,—सब-की-सबको, पा सके तो उसे इस दुनियामें और कुछ नहीं पाना रहेगा, वह कृतार्थ हो जायगा।

मैंने कहा—ठहरो, एक पान ले लें।

इक्का ठहरा, मैंने कहा—एक पान तो लगा देना।

उसने बिना मेरी ओर देखे पान तैयार करना आरंभ कर दिया। वह अपने उसी छैलाको देख रही थी जो उसे देख रहा था और मुस्करा रहा था।

मैंने देखा—वह तो गँवार है, और मैं बहुत अच्छे कपड़े पहने हुए हूँ, और एकदम सुन्दर हूँ, तब क्या मैं एक निगाहका भी हक़दार नहीं हूँ!

"बाबूजी, सुरती?"

अब उसने मुझे देखा, वैसे ही जैसे एक दीवार देखे, तसवीर देखे,—बिना भाव, बिना चितवन।

मैंने कहा—नहीं।

उसने कहा—सुरती नहीं?

रास्ता चलते इक्केसे उतर कर जो उसकी दुकानपर पान लेने आया है वह सुरती नहीं खायगा, इसपर उसे जैसे विश्वास नहीं हुआ, अचरज हुआ।

मैंने कहा—नहीं।

मुस्करानेसे वह अब हँस पड़ी। जैसे मैं उसके सामने शून्य हो गया, बस वह छैला रह गया; और एक नई यह खबर रह गई कि एक आदमी ऐसा भी है जो पान माँगता है पर सुरती नहीं खाता। और वह हँस पड़ी। मेरी समझमें नहीं आ सका कि यह दुकानवाली औरत जो इस अकर्मण्य असुन्दर युवकके सामने इस प्रकार सहज प्राप्य और सस्ती होकर अपनेको प्रकट कर रही है, वही मुझ, जैसे सुपात्र युवाके संबंधमें एकदम ऐसी संयमशील किस भाँति है, कि मेरे अस्तित्व तकसे बेखबर है!

मैंने कहा—बहुत हँस रही हो!

वह खिल-खिलाकर हँस पड़ी। बोली—बाबूजी, बाहर रहते हो कहीं? यह जो आदमी खड़ा है, एक ही बदमाश है इस शहरमें। मुझे रोज छेड़नेको आ पहुँचता है। बाबू, तुम जाओ मत कहीं, मुझे इससे बचा दो।

और वह बेतहाशा हँस पड़ी, और युवक भी ज़ोरसे हँसा। मुझे भी हँसी-सी आई। पर मनमें खीझ भी थी। देखो, इस आदमीके बहाने यह मुझसे अपना सम्बन्ध समझ सकती है और बना सकती है,—यों इसके नजदीक जैसे मैं आदमी तक नहीं हूँ। मैंने जल्दीसे अपना पान लिया, पैसा फेंका और इक्केपर आ रहा। कहा—जल्दी चलो, जल्दी।

फिर, जहाँ-तहाँ दुकानें आई, पेड़ आये, घर आये, खेत आये।

मैंने सोचा—यह क्या मामला है? मैं इक्केपर बैठकर चला जा रहा हूँ और दुनियाको मुझसे मतलब नहीं है। इक्केवालेका मतलब है, और वह यह कि

स्टेशन पहुँचूँ और तीन आने थमाकर मैं अपनी रेलकी राह पकड़ूँ। उस पानवालीके सामने मैं शून्यसे गया-बीता सिद्ध हुआ। अपने बच्चेके सामने मैं ही बाबूजी हूँ; और अपनी पत्नीके सामने पुरुष मैं ही हूँ। कहीं तुम अपनेको, अपनेमें, सारी दुनिया पाते हो। दूसरे क्षण पाते हो, तुम दुनियाके निकट एक शून्य जैसा बिन्दु भी नहीं हो। संयम-असंयम क्या है? वह पानवाली उस भद्र युवकके सम्बन्धमें अपनेको सर्वथा संयमकी आवश्यकतासे दूर, अलग, बना सकी; तभी तो यह सम्भव हुआ कि मेरे विषयमें वह ऐसी संयमशील हो उठे कि मेरी उपस्थिति तककी चेतना उसमें न जागे! मैं पुरुष हूँ, यह तक भी बोध उसे न प्राप्त हो। माहात्म्य सतीका ही सुना है, कुमारी ब्रह्मचारिणीकी महिमा सुननेमें हमारे नहीं आई। और, पत्नी हो, तभी तो कोई सती होती है। सती होनेके लिए क्यों पत्नी होना आवश्यक है? जो पत्नी बन सकी ही नहीं, वह क्या फिर सती भी नहीं बन सकेगी? इसका क्या उत्तर है, इसमें क्या तथ्य है? मीराने अपनेको कृष्णकी चेरी बनाया, कृष्णसे वह संबंध स्थापित किया जहाँ मर्यादाकी कोई रेखा नहीं रह गई, संयमका ध्यान ही नष्ट हो गया। क्या इसीका यह परिणाम न था कि वह अपने जीवनमें, अपने जीवन-भर, किसी भाँति न समझ सकी कि वह व्यक्ति, जिसके साथ लोग कहते हैं उसका ब्याह रचाया गया था, और लोग कहते हैं जो उसका पति है,—उसका पति या उसका कोई भी कुछ कैसे हो सकता है? कृष्णकी पत्नी बनकर, अपना सब कुछ कृष्णका बनाकर, उसने मानो दुनियाके अस्तित्वको ही अपने सामनेसे मिटा दिया। पर... रेलका स्टेशन कहाँ है, कितनी दूर है?...

मैंने कहा—क्यों रे, स्टेशन नहीं आया?

बोला—बाबू, जेह मोड़ पार अस्टेसनई है।

मैंने देखा—ईसाइयोंका मिशन है, बौद्ध भिक्खुओंका भी कुछ है, और वहीं नीचे एक लोहेके थालमें मक्खी उड़ाता हुआ जो मूँगफली बेच रहा है, उसका एक लड़केसे झगड़ा मचा है। और एक दर्जीकी दुकान है, एक सोडा वाटरकी दुकान है और कतारमें कई दुकानें हैं। और एक जगह पाँच-सात कुली इकट्ठे होकर सुल्फेका एक एक दम लगा रहे हैं, और जो एक ओर सड़क पर पाँच-छः ईसाई मिसें जा रही हैं, उन्हें देखते जाते हैं। और कुछ कालिजके

लड़के अमरीकन कॉलरकी कमीज़ोंमें बेंचोंपर बैठे लेमन पी रहे हैं। एकके हाथमें टैनिसका बल्ला है, दूसरेकेमें हॉकी। स्टेशन अब आया।

इक्केवालेने इक्का थमाकर कहा—बाबू, कुली...

मैंने कहा—हाँ, कुली...

दो-तीन कुली दौड़ आये और लड़ने लगे। आखिर, एकने बिस्तर उठाया, एकने ट्रंक।

"बाबू, डौढ़ा दरजा?"

मैंने देखा, मैं इन कुलियोंको यह नहीं कह सकता, कि चौथा दरजा नहीं है, इससे तीसरेमें बैठता हूँ। इसे ये लोग 'एप्रिशियेट' नहीं कर सकेंगे। मैंने कहा—

डयौढ़ा!—हाँ;—नहीं,—तीसरा।

और जब तक भीड़को चीरकर अपनी राह बनाता हुआ टिकटकी खिड़कीपर पहुँचता हूँ, पाता हूँ, बटुआ साफ़ गायब है।

मैंने कहा—चलो, यह भी ठीक।

कहानीकार

आजकल कहानीकी धूम है और समय मेरे पास खाली है। वह रीता समय मुझे भारी हो-हो आता है। नहीं जानता, उसे कैसे काटूँ। काम मेरे लिए जरूरी नहीं है क्योंकि पैसा काफी है। इसलिए जो चीज जरूरी मालूम होती है वह नाम है। नाम अब मैं कैसे पाऊँ? बिना काम नाम कैसे हो? लेकिन मैंने कहानीकी धूम सुनी है और सोचता हूँ, कहानी लिखूँ। इसमें काम ज्यादा माँगा नहीं जायगा और नाम हो ही जायगा।

पर क्या लिखूँ? कैसे लिखूँ? पढ़ा-लिखा तो मैंने बहुत है और मैं जानता हूँ, मैं विद्वान् हूँ। मैंने किसके लिए अवकाश छोड़ा है कि वह न जाने, मैं विद्वान हूँ। फिर भी, विद्वत्ता ठीक वक्तपर अलग धरी-सी रह जाती है, काम आनेसे बचती है। अब कहानी लिखनेको तत्पर होकर जो मैं बैठ गया हूँ तो जान पड़ता है, मेरी विद्या मेरे चारों ओर चक्कर लगाती हुई घूम रही है; पकड़में नहीं आती कि कलमको गति दे।

सो कलम लिये लिये मैं बैठा रह गया। एक वाक्य ज्यों त्यों लिखा, फिर उसे काट दिया। थोड़ी देर बाद एक और भी लिखा, उसे भी कटना पड़ा। विचार बहुतेरे सिरमें चक्कर मारते रहे पर उनमें कोई संगति ही नहीं दीख पड़ती थी। मुझे मालूम हो रहा था, मैं एकदम जानता तो बहुत-कुछ हूँ, फिर भी जाने क्यों, लिख कुछ नहीं पाता हूँ। इसी अवस्थामें कब वे रुईके रेशोंसे भागते उड़ते हुए विचार और भी द्रुतपद हो गये, कब वे चित्रोंके रूपमें सामने आने लगे और कब वे सपने बन चले, पता नहीं।—घण्टे-भर बाद जब आराम-कुरसीसे मैं उठा तब पता चला कि मुझे नींद आ गई थी।

मुझे बड़ा बुरा मालूम हुआ कि कहानी जैसी चीज भी मैं नहीं लिख पाया। लेकिन, कामके अभावमें ही सही, नाम तो मुझे जरूर पाना है। इसलिए कहानी भी जरूर मुझे लिख डालना है।

यहाँ आपको इतना कहूँ कि मैं कई भाषाएँ जानता हूँ और पढ़नेके नामपर

बहुत कम ऐसा पढ़ने योग्य बचा होगा जो मैंने न पढ़ा हो। मैं समाजमें मान्य गिना जाता हूँ,—प्रतिष्ठाके लिए भी, पैसेके लिए भी, ज्ञानके लिए भी। इसके बाद, तत्पर होनेपर भी, कहानी जैसी चीज मुझसे न लिखी जायगी यह असह्य मालूम होता है। फिर भी कहानी तो लिखी गई नहीं। कई बार कोशिश की और फल शून्य रहा। तब एकाएक बैठे बैठे एक दिन याद आया कि अरे, यहाँ पड़ोसमें ही तो वह रहते हैं,—क्या नाम है उनका?—जिन्हें कहानीका धनी समझा जाता है। चलो, उनके पास चलें। मालूम करें कि कहानीका क्या गुर है।

वहाँ पहुँचता हूँ तो देखता हूँ, एक सीधे सादेसे आदमी हैं। कहानीका रोमान्स भूले भी उनके आसपास नहीं है। सीधी सादी धोती है, उससे भी सीधा कुरता, और घर तो एकदम किसी भी तरहके रंगबिरंगपनसे सूना है। जहाँ तहाँ कुछ कागज, कुछ अखबार, एक-आध किताब है तो है, और कुछ नहीं है।

मुझे यह कुछ अच्छा नहीं मालूम हुआ। सोचने लगा, यहाँ कहाँ आ गया? यही कहानीके गुरु हैं? भले गुरु हैं! कहानी तो बड़ी रंगीन चीज़ है, और ये सूखे दीखते हैं। जी हुआ कि भूल हुई। चलो वापस चल दो।

उस समय मेरी कुलीनता ही आड़े आई। मेरे जैसा व्यक्ति भला अशिष्ट हो सकता है? सो, शिष्टताके नाते मैं आकर एकदम लौट नहीं गया।

मैंने अपना परिचय उन्हें दिया जिसपर वे बड़े कृतार्थ जान पड़े। वे मेरे नामसे और बड़ाईसे परिचित थे और बोले कि मेरा साक्षात् करके बहुत प्रसन्न हुए।

खुलकर उनसे बात करनेकी तबीयत तो मेरी न थी, फिर भी, कुछ कहनेके लिए मैंने कहा कि आप तो बहुत अच्छी कहानी लिखते हैं, दर्शनकी इच्छासे आपके पास आ गया हूँ।

उन्होंने कहा कि लोगोंकी कृपा है, वैसे जो लिखता हूँ लिखता हूँ। इसका सब धन्यवाद तो लोगोंको ही मिलना चाहिए जो उसे अच्छा कहते हैं और इस लिए अच्छा बना देते हैं।

होते-होते मैंने कहा कि मैं भी चाहता हूँ कि कहानी लिखूँ, पर देखता हूँ कि लिखी नहीं जाती। बताइए, कैसे लिखूँ?

बोले, कि लिखी नहीं जाती तो चाहिए क्यों? चाहना छोड़िए। कहानी

लिखना कौन ऐसा बड़ा काम है कि हर किसीके लिए जरूरी हो ? आप कहानी लिखे बिना क्यों निश्चिन्त नहीं हैं ?

मैं उनकी तरफ देख उठा। कोई और ऐसी बात कहता तो मैं उसे अपना अपमान ही समझता। लेकिन न उनके चेहरेपर कोई अवज्ञाका भाव था, न शब्दोंमें वैसी ध्वनि। मैंने कहा—बेशक कहानी लिखना मैं अपना काम क्यों बनाने लगा। पर कोई कारण नहीं होना चाहिए कि मैं कहानी न लिख सकूँ।

उन्होंने कहा—बेशक कोई कारण नहीं होना चाहिए। लेकिन, अगर यत्न करके भी नहीं लिख पाये हैं, तो कारण कोई तो है। वह क्या है ?

मैंने पूछा—क्या है ?

बोले—यह तो आपको स्वयं पाना होगा, क्या है। कुछ तो है ही। अहेतुक क्या बात होती है ? आप अपने भीतरसे पहले जानिए कि चाहनेपर भी क्यों कहानी नहीं लिखी गई ? और जब नहीं लिखी गई तो क्यों जरूरी तौरपर आपको चाहना पड़ता है कि लिखी जाय ? यही तो अनुमान होगा न, कि कुछ वस्तु आपको रोके हुए है। या तो उसे अभावकी परिभाषामें समझिए या उसे फिर कुछ नाम दीजिए। वह अभाव भर जाय या वह वस्तु हट जाय तो आपकी चाह पूरी होनेमें रुकावट नहीं रहेगी न। और जब ऐसा होगा तब चाहकी जरूरत भी शनैः शनैः लुप्त हो जायगी।

मुझे उनकी बातें कुछ अँधेरी-सी मालूम हुई। मुझे वह सब-कुछ पसन्द नहीं आया। उनके शब्दोंमें पकड़नेको कुछ है नहीं कि जिसपर विवाद उठाया जा सके और जिसको लाठीकी भाँति टेक टेक कर चलनेसे मार्ग शोधा जा सके। जान पड़ा कि कहीं इन महाशयका अहं-गर्व ही तो परामर्शकी अज्ञेयताका रूप धर कर रौब जमाने नहीं सामने आ रहा है ?

मैंने कहा—मुझे ठीक ठीक बताइए कि आप कहानी कैसे लिखते हैं।

उन्होंने कहा, "ठीक ठीक ?" और कह कर मुसकराहटके साथ मुझे देखने लगे।

मैंने कहा—हाँ, ठीक ठीक। जिससे मैं कुछ समझूँ।

बोले—देखो भाई, अपनेको पूरी तरह मैं जानता नहीं हूँ। इसलिए 'ठीक

ठीक' भी मैं नहीं जानता। फिर भी तुम बहुत 'ठीक ठीक' चाहते हो तो मुझे पूछने दो—

यह कह कर उन्होंने पाससे एक अखबार खींच लिया और वहाँ उँगलीसे एक शब्दको मुझे दिखाते हुए कहा—यह अक्षर क्या है?

मैं चुप रहा।

"यह 'अ' है न? आप 'अ' कैसे लिखते हैं? ऐसा ही तो जैसा कि यह छापेमें छपा है? ठीक ऐसा ही 'अ' मैं लिखता हूँ। 'क' भी वैसे ही लिखता हूँ, 'ख' भी वैसे ही लिखता हूँ। अक्षर और शब्द सब वैसे ही लिखता हूँ जैसे आप लिखते हैं। भाषा भी वही लिखता हूँ जो हम-आप सब बोलते हैं। 'ठीक ठीक' तो यही बात है,—इसमें आप मेरी क्या मदद चाहते हैं? यह तो आप नहीं चाहते न कि मैं आपको 'अ' लिखना बताऊँ या 'क' लिखना बताऊँ, या शब्द लिखना बताऊँ, या भाषा लिखना बताऊँ? बतानेकी तो यही चीजें हैं। लेकिन, इनके सीखनेसे तो आप ऊपर उठ गये।...आप जानते हैं, मैं क्या पढ़ा हूँ?"

मैं उनकी तरफ देखता ही रह गया।

"एण्ट्रेंस भी पास नहीं किया है। यह भली ही बात हुई है। क्योंकि कोई बहाना ही नहीं है मेरे पास कि मैं अपनेको कुछ समझूँ। न पढ़ा, न लिखा, न कुल, न शील, न सूरत, न शक्ल। इस कुछ न होनेके लिए मैं परमात्माका ऋणी हूँ। उसने मुझे साधारण बनाया, इससे बड़ी उसकी और क्या दया हो सकती थी? मैं अपनेको अति साधारण ही समझ सकता हूँ। दंभका मेरे पास क्या बहाना है, कहाँ गुँजाइश है? इसलिए अगर मैं कहानी लिखता हूँ तो क्या यह नहीं हो सकता कि कोई दम्भ मेरे भीतर रुकावट बननेके लिए उपस्थित नहीं है, इसलिए मैं लिख जाता हूँ। आप कितना पढ़े हैं?"

मैंने कहा कि मैं अँग्रेजी जानता हूँ, फ्रैंच भी जानता हूँ। छः महीने जर्मनीमें रहा था, जर्मन भी थोड़ी बहुत जानता ही हूँ। बंगलाके रवीन्द्रको मैंने मूलमें पढ़ा है। मराठी-गुजराती भी थोड़ी जानता हूँ। हिन्दी मातृभाषा ही है।—इस बारेमें तो शायद लोग मुझसे ईर्ष्या कर सकते हैं।

उन्होंने हँसकर कहा—ओः, तब बाकी क्या रहता है? बेशक यह सौभाग्य भी हो सकता है। शायद सौभाग्य है, अगर आप उसे दुर्भाग्य न बनाएँ।...

...एक काम कर सकिएगा ? है मुश्किल, लेकिन उतना ही जरूरी भी है। वह यह कि जानते रहिए आप सब कुछ, लेकिन भूल जाइए कि आप जानते हैं। क्या यह हो सकता है ? ऐसा हो तो मैं आपसे ईर्ष्या करने लगूँ। यही मैं अपनेसे चाहता हूँ,—भूल जाऊँ कि मैं कुछ जानता हूँ। अरे, इस अनंतताकी गोदमें मैं किस चीज़को क्या जानूँगा ? मैं इस महापूर्णताके शून्य अंकमें प्रस्फुटित होते रहनेके लिए अपनेको छोड़ दूँ, इससे बड़ी क्या सार्थकता है ? इससे बड़ा ज्ञान भी क्या और है ? इसलिए जो मैं अपनेसे चाहता हूँ, वही चाहूँगा कि आप अपनेसे चाहें।

मैंने देखा, वह आदमी गद्गद होनेके निकट आ गया है। मुझे प्रतीत हो गया कि यह आदमी कहानी-लेखक होने योग्य नहीं है, मात्र बेचारा है। मेरे मनमें इच्छा हुई कि मैं दुनियाको बताऊँ कि वह भूलती है। जिसको कहानी-लेखक उसने माना है वह तो कुछ बेवकूफ़-सा आदमी है। राम राम, कहानी जैसी मनोरम चीज़ और वैसा भोला-सा आदमी उसका स्वामी ! छिः छिः, यह कल्पना भी विडम्बना है।

और मैं सोचता हूँ,—मैं क्या कम योग्य हूँ कि कहानी मेरा वरण न कर ले। शायद अब तक मैं स्वयंवरके बीच आया ही नहीं। नहीं तो कैसे हो सकता है कि कहानी नतमस्तक होकर अपने दोनों हाथोंसे अपनी जयमाल मेरे गलेमें न डाल दे ?

और, मैं स्वयंवरके दर्शकोंको सूचना देना चाहता हूँ कि मैं वहाँ उतरनेको उद्यत हो गया हूँ और कहानीको अब चिरकुमारिका रहनेकी आवश्यकता नहीं है।

नीलम देशकी राजकन्या

वह सात समुन्दर पार जो नीलमका द्वीप है, वहींकी कहानी है।

वहाँकी राजकन्याको एकाएक किन्नरी बालाओंका हास-कौतुक जाने क्यों फीका लगने लगा है। आमोदके साधन सभी हैं। अनेकानेक स्वर्गकी अप्सराएँ सेवामें रहती हैं,—अनेकानेक गन्धर्व-बालाएँ और किन्नरी तरुणियाँ। महल हैं तीन। एक पुखराजका है, दूसरा पन्नेका और तीसरा हीरेका। अप्सराएँ उनमें ऐसे डोलती हैं जैसे फुलवारी और उनसे उज्ज्वल हँसीकी फुहार फूटकर पराग-सी चहुँ ओर बिखरी रहती है। और उसके सभी कहीं दुलार और अभ्यर्थना है। पर राजकन्याका जी जाने कैसा रहने लगा है।

बड़े बड़े प्रासादोंके आँगनों और कोष्ठोंमें जा-जाकर राजकन्या अपनेको मानो बहलाती फिरती है। पर सब तरुणी सङ्गिनियोंके बीचमें घिरी रहकर भी जाने कैसा उसे सूना-सूना लगता है।

कहती है—तुम जाओ। मुझे तो तुमने बहुत आनंदित कर दिया है। मैं उतनेके योग्य नहीं हूँ। बस, तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, मुझे अब अकेला छोड़ दो।

किन्नरियाँ सुनकर खिलखिलाकर हँस पड़ती हैं। कोई वेणीमें फूल खोंस देती है, कोई राज-कन्याकी देहपर पराग बखेर देती है। कहती हैं—सखि! हमको दुत्कारो मत। राजकुमार आयँगे तब-हम अपने आप चली जायँगी। यह कहकर वे फिर खिल खिल हँस पड़ती हैं।

राजकन्या कहती है—कैसे राजकुमार! कौन राजकुमार! तुम मेरी वैरिन क्यों बनी हो?

इसपर वे किन्नरी बालाएँ और भी खिलखिल हँसती हुई कहती हैं—कोई राजकुमार तो आते ही होंगे। नहीं तो हमने क्या बिगाड़ा है कि हमें झिड़कती हो? पर सखिजी, यह नीलमका द्वीप है। बीचमें समुन्दर सात हैं, तब धरती

आती है। यहाँ तक तो कोई भी राजकुमार नहीं आ सकते हैं। यहाँका नियम यही है।

राजकन्या यह सुनकर वहाँसे चल देती है। कुछ नहीं बोलती, कुछ नहीं बोलती। अप्सरा किन्नरियोंकी खिल-खिलाहट भी उसके पीछे चलती है। तब राजकन्या हठात् सोचती है, सब झूठ है। पर सब झूठ है?...

...तो यह भीतर प्रतीक्षा कैसी है? अभिषेक नहीं होना है तो रस इकट्ठा होकर मनको उभारकी पीड़ा क्यों दे रहा है? जब किसीको भी आना नहीं है तो भीतर प्रतिक्षण यह निमन्त्रण किसका ध्वनित हो रहा है? क्या किसीका भी नहीं! आँगन पुष्पित प्रतीक्षमाण है, रोज रोज प्रातःसायं मैं उसे धो देती हूँ, आसन बिछा देती हूँ। क्या उस आँगनपर चलकर आसनपर अधिकार जमानेवाला सचमुच वह 'कोई' नहीं आनेवाला है? तब आँगन आप ही आप पुष्पित क्यों हो उठता है? आयगा ही यदि कोई नहीं अपने पग-चापसे उसे कँपाता हुआ,—अपने निक्षेपसे उस कम्पनको मिटाता हुआ, तो क्यों मैं उस अपने वक्षको रोज़ रोज़ आँसुओंसे धोया करती हूँ! क्यों है यह! क्या सब व्यर्थ? सब झूठ! किन्तु नहीं है व्यर्थ। नहीं है झूठ। किसी क्षण भी कण्टकित हो उठनेवाली मेरी पुष्पित देह मेरी प्रतीक्षाकी साक्षी है। और वह मेरी प्रतीक्षा ऐसी सत्य है कि मैं कुछ भी और नहीं जानती। इस ओर यह सत्य है, तब उधर प्रति-सत्य भी है। वह है कैसे नहीं जो आयगा, देखेगा और जिसके दृष्टि-स्पर्शसे ही मैं जान लूँगी कि मैं नहीं हूँ, मैं कभी नहीं थी—सदा वही था, वही है और मैं उसीमें हूँ। जो आयगा और मेरे सब कुछको कुचल देगा। कहेगा, 'अब तक तू भूल थी। अब मेरी होकर तू सच हो। तू यह-अलग कौन है? तू मुझमें हो।' ऐसा जो है वह है, वह है। मेरा अणु अणु कहता है कि वह है। वही है, मैं नहीं हूँ।

प्रासाद अप्सराओं और किन्नरी-कन्याओंसे उद्यान बना रहता है,—हरियाला, रङ्गीन और जगमग। राजकन्याकी प्रसाधना-सेवा ही उन सेविकाओंका काम है। और वे ऐसी हैं, कि निष्णात। उनकी विनोद-लीलाओंका पार नहीं। राजकन्याके चारों ओर पुष्पहारके समान वे ऐसी इथीं गुथीं रहती हैं कि अवकाश कहींसे भी सन्धि पाकर राजकन्याके पास नहीं आ सके। क्या पता, उस

अवकाश-सन्धिमेंसे फिर कोई प्रश्न, कोई अभाव, कोई अवसाद ही झाँकने लग जाय ?

पर एक अभाव तो झाँकने लगा ही। बाहरसे नहीं, वह तो भीतरसे ही झाँक उठा। राजकन्या कुछ चाहने लगी,—कुछ वह कि जाने क्या ! किन्नरी-कन्याएँ यह देख सोचमें पड़ गईं। उनसे क्या असावधानी हुई ? क्या उन्होंने राज-कन्याके मनको कभी एक छनको भी अवकाश दिया है ? अपने प्रभु वैभवशाली इन्द्रकी आज्ञापर जो राजकन्याकी सेवामें नियोजित हैं, सो क्या उन्होंने अपने कर्तव्यमें तनिक भी त्रुटि की है ? फिर यह राजकन्यामें कैसे लक्षण दीखने लगे हैं ! और वे किन्नरी-बालाएँ अत्यधिक तत्परतासे राजकन्याके जी-बहलावमें लग पड़ीं।

बोलीं—आओ राजकन्या, खेलें।

राजकन्याने फीकी मुस्कराहटसे कहा—खेलोगी ? अच्छा खेलो।

किन्नरियाँ बोलीं—राजकन्या, तुम यह कैसे बोलती हो ? पहले हमसे ऐसे पराये भावसे नहीं बोलती थीं। तुम्हारा मन कैसा हो गया है ? हमसे उदास क्यों रहती हो ?

राजकन्याने कहा—नहीं नहीं, सखियो, मैं कहती तो हूँ, आओ खेलें।

किन्नरियोंने विषण्ण भावसे कहा—राजकन्या, हम जानती हैं कि तुम्हारा चित्त हमसे उदास है। हमसे ऐसी क्या भूल हुई है ?

राजकन्या उन सबके गले मिल-मिलकर कहने लगी—नहीं नहीं सखियो, ऐसी बात मत कहो। हम सब बचपनकी संगिनी हैं। तुम्हारे बिना मैं क्या हूँ ? चित्त कभी उदास हो जाता है, सो जाने क्यों ? पर मैं तुम लोगोंसे अलग नहीं हूँ, तुम्हारी हूँ।

किन्नरियोंने कहा—तुम अब हमारी नहीं रह गई हो राजकन्या, तुम अकेली होती जा रही हो।

"अकेली ! अकेलापन तो हाँ, मुझे कुछ कुछ लगता है। मैं क्या करूँ ? पर अब मैं ऐसी नहीं रहूँगी। अकेलापन मुझसे सहा नहीं जाता।"

किन्नरियोंने कहा कि राजकन्या, अब हमारा खेलनेका अन्त आ गया दीखता है। जैसा भाग्य। किन्तु राजकन्या, दोष तो हमारा कोई नहीं है।

इसपर राजकन्याने सबको एक-एक कर अपनी छातीसे लगाकर कहा—नहीं नहीं सखियो, मैं खूब खेलूँगी, खूब खेलूँगी। कभी कभी चित्त मेरा बुरा हो

आता है। तब तुम यह मत समझो, मुझे क्लेश नहीं होता। मनपर उस वक्त बड़ा बोझ रहता है। पर अब मैं खुलकर खूब खेला करूँगी। सच, खूब खेला करूँगी।

अरी अरी राजकन्या, तू कैसी बात करती है ? तू खूब खूब खेला करेगी, तू ! भली खेलेगी तू ! तेरे भीतर इस पुष्पित आँगनके किनारेसे लगा जो आसन बिछा है, और जो वहाँ एकको बाट जोही जा रही है, वह क्या झूठ है ! तू जानती है वही तेरा सच है। फिर क्या तू खेलमें उसे पूरी तरह बिखेर देकर निबट रहना चाहती है ? पगली, यह चाहती है तो करके देख। पर...

और राजकन्या क्या सचमुच खूब खूब खेलती रह सकी ? पर खिलौनोंसे कब तक कोई अपनेको बहला सकता है ?

\+ × + +

अगले दिन कहाँ गईं वे किन्नरियाँ ! कहाँ गईं वे अप्सराएँ ! कहाँ गईं गन्धर्व-बालाएँ ? पुखराजके उस बड़े बड़े महलके बड़े बड़े आँगनों और कोष्ठोंमें राजकन्या भाग भाग कर देख आई,—कहाँ गईं वे सब सखियाँ ? कहाँ गईं वे मनकी परियाँ ! कहीं भी तो कोई नहीं दीखता। क्या वे सपना थीं ? माया थीं ? पन्नेका महल वह देख आई, हीरेका भी देख आई। कहीं कोई नहीं, कहीं कोई नहीं। यहाँसे वहाँ, वहाँसे यहाँ, भटककर उसनें देखा,—कहीं कोई नहीं, कहीं कोई नहीं। फूल हैं तो फीके हैं। पराग है तो बिखरा है। जो है, सूना है।

'अयि, तुम कहाँ गई हो सखियो ? मुझे छोड़ तुम कहाँ गईं ?' दूर-पास उसका प्रश्न टकराने लगा, 'तुम सच्ची नहीं थीं क्या सखियो ? फिर मुझे छोड़ क्यों गईं ?' और वह उस टकराहटके जवाबमें भीतर मानो ध्वनित-प्रतिध्वनित होता हुआ सम्बोधन भी सुनने लगी, 'ओ राजकन्या, तुम अकेली कब नहीं थीं जो अब अकेली न रहो ? हमसे तुम जब तक बहलीं, तबतक हम थीं। तुमने अपना अकेलापन सँभाला और हम जिस लायक थीं उस लायक रह गईं। राजकन्या, तुम्हारा अकेलापन तुम्हारा है। इसे वही लेगा जो इसके लिए है।'

राजकन्या कहना चाहने लगी, 'नहीं नहीं नहीं, अब मैं अकेली नहीं रहूँगी, तुम सब आ जाओ। मैं बस अब खेलती रहूँगी, खेलती रहूँगी।'

पर अपने ही उत्तरमें वह सुनने लगी 'यह झूठ है, राजकन्या। तू वह

नहीं है। तू खेल नहीं है। तू उनसे अकेली है, यद्यपि अन्त तक अकेलापन छल है।'

× × ×

पल बीते, दिन बीते, मास बीते। राजकन्या पुखराज और पन्ने और हीरेके अपने महलोंके बड़े बड़े आँगन और कोष्ठोंमें घूम घूमकर परखने लगी कि वह एक है, अकेली है। कहीं कोई नहीं है, कहीं कोई नहीं है। महल हैं जो जितने बड़े हैं उतने ही वीरान हैं। हवा उनमेंसे साँय साँय करती हुई निकल जाती है। समुन्दरका जल सीढ़ियोंपर पछाड़ खाता रहता है। पक्षी आकर ऊपर ही ऊपर उड़ जाते हैं। बादल जहाँ तहाँ भागते रहते हैं। आसमान गुम्बद-सा नीला नीला निर्विकार खड़ा रहता है। और राज-कन्या पाती है, उसका कोई नहीं है, कोई नहीं। वह अपनी ही है।...लेकिन क्या वह अपनी ही है?

बीतते पलोंके बीच काल स्थिरतासे देख रहा है। राज-कन्याके मनके भीतर निमन्त्रण अहर्निशि झङ्कार दे रहा है, यद्यपि बाहर सब मौन है। वह मन्त्रकी निरन्तर जाग्रत ध्वनि ही उसका सहारा है,—नहीं तो एकदम सब शून्य है, सब व्यर्थ है। उसके भीतर जो प्रतीक्षा है, वही है सब निस्सारताके बीच सार सत्य। जब प्रतीक्षा है सत्य, तो वह असत्य कैसा जिसकी प्रतीक्षा हो? जब प्रतीक्षा मैं कर रही हूँ तो प्रतीक्षाको समाप्त कर देने या उसे असमाप्त रखनेवाला भी है। वह नहीं है, तो मैं ही नहीं हूँ।—पर मेरे भीतरकी झङ्कार तो है ही, तब उसको धारण करनेवाली मैं भी हूँ। और तब उसको ध्वनित करनेवाला वह भी है और है।

पर मास बीते, वर्ष बीते, शताब्दियाँ बीतीं, युग बीते। महलके बड़े बड़े आँगन-प्रकोष्ठोंमें खड़े हुए स्तम्भ, ऊपरकी छतें, सामनेकी दीवार और चारों ओरका शून्य गुँजा गुँजा कर कहता है—कोई नहीं है, कोई नहीं है। अरी ओ राजकन्या, बस काल है जो बीतनेका नाम है। काल है जो मौतका भी नाम है। अरी राजकन्या, बस कहीं और कुछ नहीं है।

पर राजकन्याके भीतर तो अहरह एक मन्त्रोच्चारकी ध्वनि हो रही है, उसे इंकार करे तो कैसे? नहीं कर सकती, नहीं कर सकती। इसमें कालको चुनौती मिलती है तो भी क्या। 'वह है, वह है। नहीं तो मैं किसके लिए हूँ? अपनी प्रतीक्षाके लिए मैं हूँ और मेरी प्रतीक्षा उसके लिए है।'

हवा सन-सन करके उसके कानोंमेंसे भाग जाती है। समुन्दरका हाहाकार चेतनाको दबोच लेना चाहता है। काल आकर उसके सब कुछको मानो रौंधता हुआ उसके ऊपरसे जाकर भी नहीं जाता, वह भागता हुआ भी उसके ऊपर डटा खड़ा है।

राजकन्याको लगता है, मानो एक अट्टहास कह रहा हो कि "ओ राजकन्या, देख, चारों ओर सब खोखला है कि नहीं ? अरी ओ, कुछ नहीं है, कुछ नहीं है। तेरे मनके भीतरका राग एक रोग है। मत बीत और मत अपनेको खिला। राजकन्या, कहीं कोई नहीं है, कहीं कोई नहीं है। धरती दूर है, बीचमें समुन्दर सात हैं, और आनेवाला राजपुत्र कहीं कोई नहीं है, कोई नहीं है। कह तो एक बार कि 'कोई नहीं है।' फिर देख कि वे सब किन्नरियाँ पलक मारतेमें तेरे पास आती हैं या नहीं। वह सब मेरी बाँदियाँ हैं।"

राजकन्या पुकारना चाहती है कि 'ओ ! मेरी सखियोंको मुझे दे दो। पर जिसके लिए मैं हूँ, वह तो है, वह है। नहीं तो मैं नहीं हूँ।'

उसकी इस बातपर मानो अट्टहास और भी सहस्र गुणित होकर उसके चारों ओर व्याप जाता है, मानो उसे लील लेना चाहता हो।

तब राजकन्या आँख मूँद कर, कान मूँद कर, प्राणपणसे भीतर ही कह उठती है, 'तू है। नहीं आया है तो भी तू आ ही रहा है। तू आनेके लिए ही नहीं आया है। इस तेरी ठगाईमें आकर मैं प्रातः-सन्ध्या तेरे आँगनको धोनेमें चूक करनेवाली नहीं हूँ, ओ छलिया। जो नहीं जाने वह नहीं जाने। पर क्या यह हँसनेवाला काल बली भी नहीं जानता है ? पर मैं जानती हूँ। सुन, ओ सुन, मैं और मेरी प्रतीक्षा, हम दोनों तुझसे टूटनेके लिए ही टिके हैं। नहीं तो हम होते ही क्यों ? तू आयेगा, और मैं टूट कर कृतार्थ हूँगी !'

चारों ओर होता हुआ अट्टहास चीत्कारका रूप धर उठा। मानो सहस्रों कंकाल दाँत किटकिटाकर विकट रूपसे गर्जन कर रहे हों। हवा प्रचण्ड हो उठी। समुद्र दुर्दान्त रूपसे महलपर फन पटक पटक कर फूत्कार करने लगा। जान पड़ा, सब ध्वंस हो जायगा।

इस आतङ्ककारी प्रकृतिके रूपके नीचे राजकन्या भयसे काँप काँप गई। पर वह जपती रही, 'तू है। तू है।'

थोड़ी देरमें किसीने उसके भीतर ही जैसे हँसकर कहा, ' आई बड़ी राज-कन्या ! पगली, ढिट्-ढिट् ! ! मैं कहाँ अलग हूँ ? अरे कहीं मेरे सिवा कुछ है भी जो डरती है ? कह क्यों नहीं देती कि मैं नहीं हूँ ? क्योंकि मैं तो तेरे 'नहीं'में भी रहूँगा । सुना ? अब आँख खोल और हँस । '

उस समय राजकन्याने दोनों हाथोंसे पूरे जोरसे अपने वक्षको दबा लिया । उसके सारे गातमें पुलक हो आया । वह यह सब कैसे सहे ? कैसे सहे ? उसके मुँहसे हर्षकी एक चीख निकली । मानो वह पागल हो गई है ।

क्षण-भर बाद उसने आँख खोली । देखती है,—सब ओर वसन्त है और महलके द्वारमेंसे किन्नरी बालाएँ भाँति भाँतिके उपहार लिए बढ़ती चली आ रही हैं।

पास आनेपर राजकन्याने जाने कैसी मुसकानसे कहा—तुम आ गईं ? यह क्या क्या लिये आ रही हो ?

किन्नरी बालाओंने कहा—उपहार है । ये राजपुत्रकी इच्छानुसार हमें लानेको कहा गया है ।

" राजपुत्र ! कैसे राजपुत्र ? "

" अभी हमारे आगे आगे उनकी सवारी आ रही थी, राजकन्या ! सचमुच अब वह कहाँ गये ? "

राजकन्याने मुस्कराकर कहा—कौन राजपुत्र जी ? एक तो आये थे, उनको मैंने कैदमें डाल लिया है । अब वह उपद्रव नहीं करेंगे । हमारे द्वीपमें उनका क्या काम, क्यों सखियो ?

इसके बाद राजकन्या उठकर अपनी किन्नरी सखियोंके साथ एक-एकसे गले मिली । अनन्तर वह हर प्रकारकी क्रीडामें मग्न भावसे भाग लेने लगी, और फिर अवसाद उसके पास नहीं आया ।
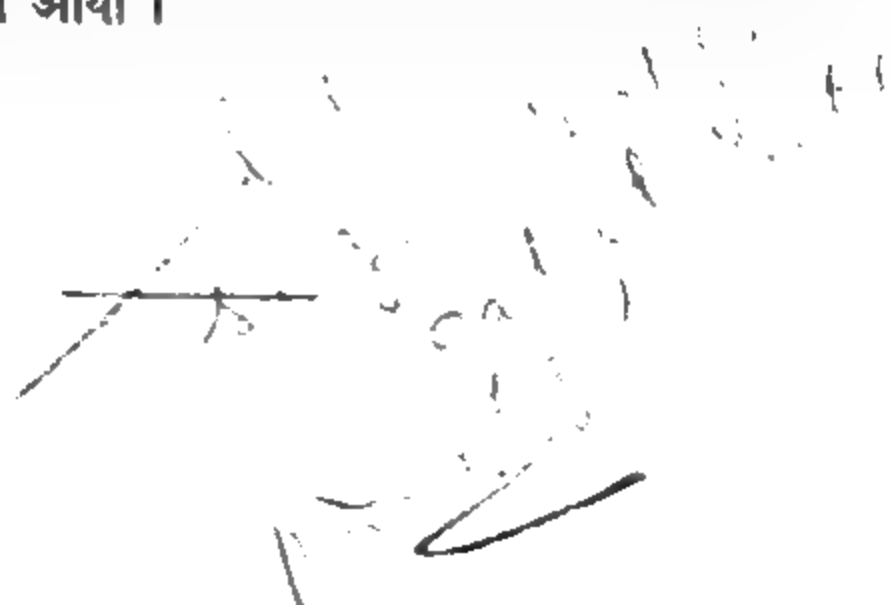
हवा-महल

पिताके बाद युवराज राजा हुए। नई उनकी वय थी, प्रेममें पालन पाया था। लोककी रीति-नीतिसे अभी अनजान थे। मनमें कुछ सपने थे, तबीयतमें ईषत् आग्रह। अनुभव था नहीं, सो स्वभावमें किसी कदर मन-मानापन था।

पर राजमंत्री लोग अनुभवी थे, और जानकार थे। वे राजाको किशोर पाकर अप्रसन्न नहीं थे। सावधान रहना उनका काम था और वे राजकाजकी गुरुताके बारेमें नये राजाको सीख और चेतावनी देते रहते थे। इन राजकिशोरको सँभालकर योग्य बनाना होगा, अतः वे राजाके आनंद-विलासका ध्यान भी रखते थे।

एक रोज प्रधान राजमंत्रीने महाराजके पास आकर कहा—महाराज, वह महल, जिसमें आप रहते हैं, पुराना हो गया है। आपके पिता इसमें रहते थे, पिताके पिता इसमें रहते थे। नये महल नई तरहके होते हैं। नई तरहका नया महल एक बनना चाहिए। इतिहासके बड़े लोग अपनी निर्मित कृतियोंसे याद किये जाते हैं। जो कीर्ति बड़ोंसे मिलती है उसका बढ़ाना पुत्रका धर्म है। महाराज एक नया महल बनवाएँ।

महाराजने कहा—वह नया महल कैसा हो ?

मंत्री—हो ऐसा कि नयेसे नया। अपूर्व और सबसे सुंदर और सबसे ऊँचा।

महाराज—फिर उस महलमें क्या हो ?

मंत्री—हो क्या ! जो सुन्दर है सब हो। उसपर महाराजकी पताका फहरे। उससे महाराजका सुयश चमके। उसमें महाराज वास करें।

महाराज—तब इस महलका क्या हो ?

मंत्री—कैसा प्रश्न महाराज ! राजमहल गृहस्थके घर नहीं हैं। गृहस्थका घर एक होता है, इससे वह भरा रहता है। राजाके महल अनेक होते हैं और वे कई कई खाली रहते हैं। खाली महल राज-वैभवके लक्षण हैं। राजाके वैभवको

देखकर प्रजा प्रसन्न होती है। राजप्रासाद प्रजाके सौभाग्यके सूचक हैं। प्रजाकी प्रसन्नता राजाका कर्तव्य है।

महाराज—प्रजाको प्रसन्न रखनेका यह उपाय है, मंत्रीजी?

मंत्री—प्रजाको सन्तोषके लिए विस्मय चाहिए। विस्मय पाकर स्फूर्ति जाग्रत् होती है। ऐसा महल बनना चाहिए, महाराज, जो विस्मय-सा सुंदर हो। वर्तमान उससे आतंकित हो रहे, भविष्य चकित हो जाय। बस, वह एक स्वप्न ही हो।

महाराज—स्वप्न जैसा महल! मंत्रिवर, लोभको शास्त्र बुरा बताते हैं। पर मैं अपनी ओरसे आपके अधीन हूँ। उस स्वप्न जैसे महलको कौन बनायगा?

मंत्री—अनुज्ञाकी देर है, हम सब सेवक किस लिए हैं?

महाराज—वह देर मत मानिए। बन सके तो महल क्यों न बनाने लग जाइए। प्रजाके सुखमें विलम्ब अनुचित है।

मंत्री—जो आज्ञा। किंतु आपने कुछ अहकाम ऐसे जारी कर दिये हैं कि हमारे हाथ बँधे हैं। राजकोषसे इस बारेमें व्ययका सुभीता, महाराज—

महाराज—राजकोष—

मंत्री—पचास लाख रुपया काफ़ी होगा, महाराज।

महाराज—मंत्री, आपका अनुमान कहीं कम तो नहीं है? उस द्रव्यसे स्वप्न-सा महल बन जायगा? फिर सोचिए, मंत्रीजी।

मंत्री—हाँ महाराज, बल्कि कुछ पचाससे भी कम लगानेकी कोशिश की जायगी।

महाराज—तब तो स्वप्न-सा महल आप मुझे क्या दीजिएगा। पचास लाख तो, सुनते हैं, इसी महलमें लग गये थे। क्या यह विस्मय-सा सुंदर है?

मंत्री—महाराज, निश्चय रखिए, महल अपूर्व होगा और पचास लाख रुपया उसके लिए काफी हो जायगा।

महाराज—मंत्रीजी, आपका हिसाब सुंदर नहीं है। सुनिए, हमारे राज्यकी जनसंख्या दस लाख है। आपके रहते हुए हमारे वे लोग खुशहाल तो होंगे ही। इसलिए प्रत्येकपर दस दस रुपयेका हिसाब तो भी पड़ना चाहिए। महलमें लगानेके लिए एक करोड़से कमकी बात आपके मुँहसे शोभा नहीं देती, मंत्रिवर।

मंत्री—जो महाराजकी आज्ञा।

महाराज—मेरी आज्ञाकी बात छोड़िए। मैं जो राजा हूँ। महल वह मेरा

होगा। पर उसे बनानेका काम तो आप लोगोंद्वारा औरोंको करना है। इससे आप सब अपनेसे ही आज्ञा ले लें। मैं पूछता हूँ कि प्रजामें जितने लोग हैं, उससे दस गुना रुपया महलमें लगे तो यह हिसाब अशुद्ध तो नहीं कहलायगा, क्यों मंत्रीजी? इसमें अपनी राय बताइए।

मंत्री—जो महाराजकी आज्ञा।

महाराज—फिर मेरी आज्ञा! मेरा काम महलमें रहनेका होगा। इससे पहलेका काम आप लोगोंका और मजूर लोगोंका है। मंत्रीजी, पैसेके हिसाब-किताबका काम भला कहीं राजोचित होता है?

मंत्री—जो इच्छा।

महाराज—इतना ठीक हो गया न? अब मुझे कुछ मत पूछिए। मेरी ओरसे आप लोग इस महलके बारेमें अपनेको पूरा आज़ाद मानिए। पर हाँ, महलका नाम क्या रखिएगा?

मंत्री—नाम!

महाराज—सुनिए! 'हवा-महल' नाम हो तो कैसा? बोलिए, पसंद है?

मंत्री—बहुत सुन्दर, बहुत सुन्दर।

महाराज—तो फिर और भी सुनिए। आसमान सात होते हैं। महलमें मंजिलें भी सात हों। इंद्रधनुषके रंग कितने होते हैं,—सात, कि कम? ख़ैर, मंजिलें सात हों और इंद्रधनुषके सब रंग वहाँ हों। ठीक?

मंत्री—बहुत ठीक!

महाराज—सुनिए मंत्री जी, हम राजा हैं न! तुच्छ बातें हमारे लिए नहीं हैं। रुपएकी बात सोचे वह राजा नहीं। वह मामूली लोगोंका काम है। रुपएकी मत सोचना। महल हवा-महल बनना है तब रुपएकी क्या बिसात? राजका कोष आख़िर किस लिए है? महलसे प्रजा खुश होगी। इससे महलमें जितना भी धन लग सके उससे तनिक भी कम नहीं लगाना चाहिए। मंत्रीजी, महलके साथ मेरे सामने रुपएकी बात लानेसे मेरे राजापनका अपमान होता है। जाओ, सात मंजिलके हवा-महलकी तैयारी होने दो।

मंत्री—मैं अनुग्रहीत हूँ। तो राज-कोषाध्यक्षको आप आवश्यक आदेश—

महाराज—फिर आप छोटी बातें उठाते हैं, मंत्री महाशय।

मंत्री—क्षमा, महाराज। तो कल ही काम आरम्भ हो जायगा। प्रजाजन

इस खबरको सुनकर बहुत कृतज्ञ होंगे। इससे उन्हें करनेको काम मिलेगा और महाराजके अभिनंदनके लिए अवसर प्राप्त होगा।

महाराज—मंत्री, इस हवा-महलके बारेमें मुझसे और कुछ न पूछिए। आप उसके विषयमें पूरे आज़ाद हैं। बननेपर उसका आनंद और यश पानेको मैं हूँ। उससे पहलेकी सब बातें आप जानें।

मंत्री—जो आज्ञा।

मंत्री चले गये और अगले दिनसे महलकी तैयारी होने लगी। प्लान बने, नक़्शे बने, और लोग चल-फिर करने लगे। इंजीनियर तत्पर हुए, ठेकेदार आगे आये और मजूर जुटाए जाने लगे। राजधानीके नगरमें समारोह-सा ही दिखने लगा। मानो, जहाँ आर्द्रता भी सूख रही थी वहाँ ताज़ा लहू बह चला।

पर राजाने कुछ नहीं सुना। उन्हें जैसे रखनेको कुछ पता ही नहीं चाहिए। जब उन्हें कामके बारेमें सूचनाएँ दी गईं तब उन्होंने कहा—मैं हवा-महल चाहता हूँ। शेष सब-कुछ, मंत्रिगण, आप लोग जानें। मुझे तो हवा-महल दे दें।

मंत्री—देखिए तो, महाराज, महलका यह चित्र कितना सुंदर है।

महाराज—बहुत सुंदर है।

मंत्री—महाराज उदासीन प्रतीत होते हैं। चित्र देखिए और कहिए, है कि नहीं सुंदर?

महाराज—अवश्य सुंदर है। हमारी आशा जो सुंदर है।

मंत्री—महाराज, महल बननेकी सूचनासे प्रजामें नया चैतन्य आ गया है। शत शत मुखसे आपका यशोगान सुन पड़ता है।

महाराज—मंत्रिगण, यह शुभ समाचार है। आपसे मुझे ऐसी ही सांत्वना है।

मंत्री—महाराजका आशीर्वाद हमारा बल है।

महाराज—प्रजाकी प्रसन्नतामें हमारा बल है, मंत्रिवर।

यह हुआ, किन्तु महाराजकी उदासीनता दूर न हुई। मन उनका अनमना रहता था। ऐसे देखते, जाने कहीं और हों। कभी सामने, दूर, ठहरी हुई आसमानकी सूनी नीलिमाको देखकर अवसन्न हो रहते। उनके मनपर जैसे यह शून्यता छाए आती हो, छाए आती हो।

उधर काम ज़ोरोंसे होने लगा। नगरमें मानो चैतन्यका एक पूर-सा आ गया। आदमी ही आदमी, आदमी ही आदमी। हज़ारहा आदमी दूर दूरसे खिंच-

कर वहाँ मजूर बनने आने लगे और ऐसा कोलाहल मचने लगा मानो लोग प्रसन्नतासे ही मत्त हुए जा रहे हैं। और जाने कहाँ कहाँका सामान वहाँ इकट्ठा हुआ,—लकड़ी, लोहा, मिट्टी, पत्थर। और उसको लानेके लिए कलें आईं। और उनको यहाँसे वहाँ उठाने-धरनेके लिए और कलें आईं। और वर्दीवाले अफ़सर आये और चपरासवाले चपरासी आये। और दफ़्तर खुले और डीपो खुले, और अस्पताल और पानीघर और टट्टीघर आदि आदि भी खुले। और एक ऐसा घर भी खुला जहाँसे भूखोंको मुफ़्त रोटीका दान दिया जाता था। रोग फैले तो उन्हें दमन करनेके लिए डाक्टर बने। झगड़े उठे तो उनके मिटानेके लिए जज और वकील जनमे। और दुष्टका दमन और साधुका परित्राण करनेके लिए नीतिज्ञ जनोंने क़ानूनपर क़ानून खड़े किये। जिसपर बद्धपरिकर पुलिस आई और मदिरालय आये और द्यूत-गृह आये और...मतलब, काम ज़ोरोंसे और व्यवस्थासे और शांतिसे होने लगा।

एक दिन महाराज सीधे सादे कपड़े पहने उधर जा निकले। उन्होंने देखा—नये महलकी जगहके और उनके बीचमें अब जाने कितना न अंतर प्रतीत होता है। और जाने कितने न आदमी उस अंतरको भरनेके लिए मध्यमें खप रहे हैं। वह चलते गये, चलते गये। वह देखना चाहते थे कि महलका क्या बन रहा है?

ठीक स्थानपर पहुँचकर उन्होंने देखा कि धरतीमें दूर दूर तक गहरी और लंबी खाइयाँ खुदी हैं। गहरी इतनी कि उनमें सीधे और पूरे कई आदमी समा जायँ। वे आपसमें कटी-फटी ऐसी धरतीमें बिछी हैं कि मानो कोई षड्यंत्र फैला हो,—जैसे वह कोई भयंकर चक्र हो। धरतीको भीतर तक पोला कर डाला गया है, कि जगह जगह मोरियाँ-सी बन गई हैं। यह सब देखकर राजाका मन विश्वस्त नहीं हुआ।—जिसका सिर खुली हवामें हो और जिससे आसमान पास हो जाये, वह महल क्या ऐसा होता है? यह आकाशकी ओर उठानेवाला महल है, या नरककी ओर ले जानेवाला कोई जाल है!

राजाने वहाँ एक आदमीसे पूछा—भाई, यह सब क्या हो रहा है?

सुननेवालेने बताया कि नये महाराजका नया महल बन रहा है।—तुम कहाँ रहते हो? इतनी बात भी नहीं जानते हो!

महाराजने कहा—भाई, मैं भूलमें रहता हूँ। मैं बहुत कम बात जानता

हूँ। एक बात तो बताओ, भा[illegible] आदम कहाँसे यहाँ आ गये हैं ! पहले तो यह जगह सुनसान थी। यहाँ आनेके लिए वे खाली हाथ बैठे थे क्या ! इससे पहले वे क्यों कुछ नहीं करते थे !

उस आदमीने कहा—तुम कैसे अनजान आदमी हो जी ! आजकल करनेको कौन धंधा रह गया है ? जहाँ देखो वहीं कल। धरती नाज देती है, पर रोटी अपने हाथसे थोड़े ही वह दे देगी ! वह नाज धरतीपरसे साहूकारकी कोठीमें चला जाता है। सो किसान भूखा रहता है कि कब वह मजूर बनकर पेट पाले। इससे, मजूरीमें रोटी दो तो हज़ार क्या लाख आदमी ले लो। तुम जाने कहाँ रहते हो जो इतना तक नहीं जानते। नये महाराज हमारे बड़े उपकारी हैं जिससे इतने लोगोंको काम मिल गया है।

महाराज—यह तो ठीक बात है। पर इस उपकारसे पहले इन लोगोंका क्या हाल था ?

आदमी—वह हाल तुम नहीं जानते ?

महाराज—बुरा हाल था ?

आदमी—बस पूछो मत।

महाराज—उसमें राजाका उपकार नहीं था ?

सुननेवाले आदमीने रिस भावसे कहा—तुम कैसे आदमी हो जी, जो महाराजके विरोधकी बात करते हो। तुम्हें कानूनका और धर्मका डर नहीं है ? जाओ, तुम कोई खाली आदमी मालूम होते हो। हमको अपना काम है।

महाराज आगे बढ़ गये। धरतीके भीतर खुदी हुई व्यूह-सी बनी उन मोरियोंको यहाँ-वहाँसे देखते हुए वह कुछ काल घूमते रहे। थकथकाकर फिर वह वापिस लौट आये।

अगले दिन उन्होंने मंत्रियोंको बुलाकर पूछा—कहिए मंत्रिगण, महलका काम कैसा हो रहा है ?

मंत्री—काम तेज़ीसे हो रहा है, महाराज। दस हज़ार मजूर लगे हैं। बस छः महीनेमें महल आप देखेंगे।

महाराज—काम कितना हो गया है ?

मंत्री—बुनियादें पूरी हो गई हैं। बस अब चिनाई शुरू होगी।

महाराज—चलो, देखें क्या हो रहा है।

मंत्रियोंके साथ महाराज मौकेपर आये। देखकर बोले—यह सब क्या है ?